सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[ग्रन्थांक ३२]

महामात्य - वस्तुपाल - कीर्तिकीर्तनस्वरूप - काव्यद्वय

महाकवि - सोमेश्वरदेव - विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि - अरिसिंह ठक्कुर - विरचित

सुकृतसंकीर्तन



SINGHI JAIN SERIES

[NUMBER 32]

Two panegyric and historical poems describing the good deeds of the great minister Vastupal of Gujarat.

I. KĪRTIKOUMUDĪ

By Mahakavi Somes'vara Deva

2. SUKRITASAMKĪRTANA

By Kavi Arisimha Thakkura

कलकत्तानिवासी

साधुचरित-श्रेष्ठिवर्य श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी पुण्यस्मृतिनिमित्त

प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

[जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, कथात्मक – इत्यादि विविधविषयगुम्फित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर, - राजस्थानी आदि नाना भाषानिबद्ध सार्वजनीन पुरातन वाङ्मय तथा नूतन संशोधनात्मक साहित्य प्रकाशिनी सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रन्थावलि]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद् - डालचन्दजी - सिंघीसत्पुत्र

स्व॰ दानशील - साहित्यरसिक - संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी



प्रधान सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

*

ऑनररी फाउंडर - डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

ऑनररी मैंबर – जर्मन ओरिएण्टल सोसाईटी, जर्मनी भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (दक्षिण) गुजरात साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध प्रतिष्ठान, होशियारपुर (पंजाब) इत्यादि ।

*

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

व्यवस्थापक

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

प्रकाशक – ज ह दवे, ऑनररी डायरेक्टर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, नं ७

मुद्रक – जयन्ती दलाल, वसन्त प्रिंटिंग प्रेस, घेलाभाईनी वाडी, घीकांटा, अहमदाबाद

महामात्य-वस्तुपाल-कीर्तिकीर्त्तनस्वरूप-काव्यद्वय

महाकवि-सोमेश्वरदेव-विरचित

कीर्तिकौमुदी

तथा

कवि-अरिसिंह ठक्कुर-विरचित

सुकृतसंकीर्तन



संपादनकर्ता

अनेकग्रन्थभाण्डागारोद्धारक-विविधदुर्लभ्यग्रन्थसंशोधक

जिनागमप्रकाशकारि-प्रतिष्ठानप्रवर्तक

आगमप्रभाकर-मुनिप्रवर श्री पुण्यविजय सूरि ।



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्याभवन, बम्बई



विक्रमाब्द २०१७] प्रथमावृत्ति [खिस्ताब्द १९६१

ग्रन्थांक ३२] सर्वाधिकार सुरक्षित [मूल्य रु० ६/५०

SINGHI JAIN SERIES

❀ अद्यावधि मुद्रितग्रन्थ नामावलि ❀

•

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr. G. H. Bühler's Life of Hemachandrāchārya.

Translated from German by Dr. Manilal Patel, Ph. D.

—⊶—

❀ संप्रति मुद्यमाणग्रन्थनामावलि ❀

विषयानुक्रम।

प्रासंगिक वक्तव्य

गूर्जर महामात्य वस्तुपालकी कीर्तिको काव्यबद्ध करनेका जिन कवियोंने प्रयत्न किया है उनमें राजपुरोहित कवि सोमेश्वर और ठक्कुर अरिसिंह मुख्य हैं। कवि सोमेश्वरने कीर्तिकौमुदी नामक काव्य रच कर और अरिसिंहने सुकृतसंकीर्तन काव्य बना कर, वस्तुपालको यश कीर्तिको युगान्त तक स्थिर रखनेका सत्प्रयत्न किया है।

कीर्तिकौमुदी काव्यका कर्ता कवि सोमेश्वर सुप्रसिद्ध व्यक्ति है। वह वस्तुपालका अनन्य मित्र और राजपुरोहित था। वस्तुपालके गुणोंका वह बहुत अनुरागी और प्रशंसक था। वस्तुपालकी युद्धवीरता और दानवीरता का वह प्रत्यक्ष साक्षी था, इसलिये उसके काव्यकी गुणवत्ताका महत्त्व बहुत है। कविता की दृष्टिसे भी यह काव्य बहुत उच्च कोटिका है।

इस काव्यका, बहुत पहले (सन् १८८३ में) अहमदाबादके गुजरात कालेजके संस्कृतके प्रोफेसर ए. वी. कायवटे नामक विद्वान्ने संपादन कर 'बॉम्बे संस्कृत सीरीज़' नामक ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशन किया था। प्रो कायवटेने इसकी भूमिका रूपसे एक बहुत विस्तृत इंग्रेजी प्रस्तावना लिखी, जिसमें काव्यगत बातोंका विस्तृत ऊहापोह किया है। प्रो कायवटे संपादित यह पुस्तक अब अलभ्य है। इसलिये इसका पुनर्मुद्रण करनेकी दृष्टिसे प्रस्तुत प्रकाशन किया गया है। मूल ग्रन्थके संशोधनमें कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियां भी और मिल आईं, इसलिये इसका यह प्रकाशन अधिक शुद्ध हो गया है।

इसके साथ, कवि अरिसिंह विरचित सुकृतसंकीर्तन काव्य भी सम्मिलित कर दिया है। क्यों कि ये दोनों काव्य, वर्णन और वस्तुकी दृष्टिसे, परस्पर बहुत कुछ साम्य रखते हैं।

'सुकृतसंकीर्तन' काव्यकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, जब स्व० जर्मन महाविद्वान् डॉ ब्युह्लरको मिली तो वे इसको देख कर बहुत आकृष्ट हुए और इस पर उन्होंने जर्मन भाषामें एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक जर्नल में, बहुत बडा निबन्ध लिख कर प्रकट किया। उस निबन्ध के महत्त्वको देख कर, इ. एच्. बर्जेस नामक इंग्रेज विद्वान् ने, उसका इंग्रेजी अनुवाद कर, इन्डियन एन्टीक्वेरी नामक सुप्रसिद्ध पत्रिकामें प्रकट किया। पर मूल संस्कृत काव्य कहीं प्रकट नहीं हुआ था। इसलिये स्वर्गवासी मुनिवर श्री चतुरविजयजी महाराजने, इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त कर, भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित होने वाली 'आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला' के एक मणकेके रूपमें प्रकाशित किया। यह प्रकाशन भी अब अप्राप्य है, अतः इसका पुनर्मुद्रण भी इसके साथ कर देनेका हमारा विचार हुआ। इस प्रकार इसका पुनः प्रकाशन करनेकी हमारी इच्छाको मुनिवर्य्य श्री पुण्यविजयजी महाराजने सहर्ष स्वीकार कर, अपने स्वर्गीय गुरुमहाराजके संपादनको सुप्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार 'कीर्ति कौमुदी' और 'सुकृत संकीर्तन' इन दोनों काव्योंका संयुक्त प्रकाशन कर देना जब निश्चित हुआ, तो हमारे मनमें इन दोनों काव्योंके परिचयस्वरूप जो उक्त दो इंग्रेजी निबन्ध लिखे गये हैं, उनको भी इसमें सम्मिलित करना अधिक उपयुक्त लगा। क्यों कि ये दोनों निबन्ध अब अप्राप्य हैं, और उन निबन्धोंके विद्वान् लेखकों द्वारा जिस परिश्रम और जिस अध्ययनके फल स्वरूप ये प्रौढ निबन्ध लिखे गये हैं, वे सदा सम्भाननीय और सदैव पठनीय हैं। अतः हमने उन दोनों विशिष्ट निबन्धोंको भी यथावत् इस प्रकाशनमें मुद्रित कर दिये हैं।

स्व० मुनिवर्य्य श्री चतुरविजयजी महाराज द्वारा संपादित और प्रकाशित 'सुकृत संकीर्तन' काव्यके प्रास्ताविक रूपमें, स्व० विद्वान् चिमनलाल डा. दलाल (गायकवाड्स् ओरिएन्टल सीरीझ, वडौदा, के मूल प्रतिष्ठापक)ने, ग्रन्थपरिचयात्मक छोटासा इंग्रेजी वक्तव्य लिखा था, उसको भी हमने इसके साथ संकलित कर देना उचित समझ कर, वैसा किया है। इस वक्तव्यमें वस्तुपालके कीर्तिकलापोंका वर्णन करने वाली समसामयिक जितनी रचनाएं, उपलब्ध हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

महामात्य वस्तुपालके जीवन और कार्योंसे संबद्ध जितनी समकालीन साहित्यिक कृतियां उपलब्ध होती हैं उनका संक्षिप्त परिचय, हमने इस ग्रन्थमालाके ४ थे ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य'के किंचित् प्रास्ताविकमें लिखा है। उससे संबद्ध 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी' आदि वस्तुपालकी प्रशस्त्यात्मक रचनाओंका तथा उसके बनाये हुए मन्दिरों और मूर्तिओंके जितने शिलालेख अभी तक ज्ञात हुए हैं उन सबका भी, एक संग्रह ग्रन्थ, इसी ग्रन्थमालाके ५ वें ग्रन्थके रूपमें प्रकट किया गया है।

पहले, प्रस्तुत काव्य द्वय भी उसी संग्रहके अन्तर्गत संकलित रूपमें प्रकट कर देनेका विचार रहा और तदनुसार इसका मुद्रण कार्य भी कराया गया। परंतु पीछेसे प्रो काथवटे लिखित 'कीर्तिकौमुदी' की इंग्रेजी प्रस्तावना और डॉ ब्युहलर लिखित 'सुकृत संकीर्तन' काव्यका विशिष्ट परिचायक बहुमूल्य निबन्धका इंग्रेजी अनुवाद भी, इसमें संकलित कर देनेके विचारसे, प्रस्तुत ग्रन्थ को, अब ग्रन्थमालाके ३२ वें ग्रन्थके रूपमें, पृथक् प्रकट किया जा रहा है।

'धर्माभ्युदय महाकाव्य' 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी आदि वस्तुपाल-प्रशस्तिसंग्रह' तथा प्रस्तुत 'कीर्तिकौमुदी तथा सुकृतसंकीर्तन काव्य द्वय'—इन तीनों ग्रन्थोंका संपादन कार्य विद्वद्रत्न मुनिमहोदय श्री पुण्यविजयजी महाराजने किया है और इसके लिये हम इनके प्रति, अपना पुनः पुनः सादर कृतज्ञभाव प्रकट करना कर्तव्य समझते हैं।

महावीर जन्मदिन, चैत्र शुक्ला १३, सं २०१७
ता ३० मार्च, १९६१, भारतीयविद्याभवन, बम्बई

—मुनि जिनविजय

—आभार प्रदर्शन—

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जो द्रव्य व्यय हुआ है उसका अर्द्ध भाग भारत सरकारने देनेकी उदारता प्रकट की है, अतः इसके लिये हम भारत सरकारके प्रति अपना सादर आभार प्रकट करते हैं।

गूर्जरेश्वरपुरोहित-

महाकविश्रीसोमेश्वरदेवविरचितं

कीर्तिकौमुदीमहाकाव्यम् ।

(महामात्यश्रीवस्तुपालचरितात्मकम्)

प्रथमः सर्गः ।



॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

मङ्गलाचरणम्

श्रिये[1] सन्तु सतामेते, चिरं चातुर्भुजा भुजाः । यामिका इव धर्मस्य, चत्वारः स्फुरदायुधाः ॥ १

कुर्वन् गिरिभुवि[2] क्रीडां, दृष्टोन्नतपयोधरः[3] । उल्लसच्चन्द्रकः[4] प्रीतिं, नीलकण्ठः[5] करोतु वः ॥ २

जटा-सीमन्तकान्तं वः, श्रियेऽस्तु शिवयोर्वपुः । ताततेत्यम्बेति वाऽऽहूतं, गुहेन प्रतिवक्ति यत् ॥ ३

भूयान्मुदे नदेकं वः, शिव-केशवयोर्वपुः । करोति प्रणतिं यस्य, भीतः प्रीतश्च मन्मथः ॥ ४

सारस्वतमयं वन्दे, तमोपहमहं महः । अपि सूक्ष्मपदार्थानां, साक्षात्कारं करोति यत् ॥ ५

सरस्वतीं सदा वन्दे, यदुपास्तिसमुच्छ्रिताः । काव्यानि कुसुमानीव, सुवते कविपादपाः ॥ ६

कविवर्णना

धन्यास्ते कवयो येषां, सूक्तिसौरभवासिता । कृतत्रिजगदाह्लादं, कीर्तिर्भ्रमति भूभुजाम् ॥ ७

जयन्ति कवयः केऽपि, सूक्तैर्मन्त्रैरिव द्रुतम् । तांस्तांश्चिद्रूपचित्तेषु, रसानावेशयन्ति ये ॥ ८

मधुना लसदुत्कर्षां, कविपद्मपद्मिनीम् । रामायणकवेस्तस्य, हृद्यां वन्दे सरस्वतीम् ॥ ९

स्तुमस्तमेव वाल्मीकिं, यत्प्रसादात् प्रशस्यते । लोकैर्दाशरथं वृत्तमपि श्रवणदुःखकृत् ॥ १०

स नमस्यः कथं न स्यात्, सतां सत्यवतीसुतः[11] । सुपर्वोपचितं चक्रे, यः स्वर्गमिव भारतम् ॥ ११

कालिदासः कविर्जातः, श्रीरामचरितस्य यत् । स एष शर्करायोगः, पयसः समपद्यत ॥ १२

विरक्तश्चेद् दुरुक्तिभ्यो, निर्वृतिं वाऽथ वाञ्छसि । वयस्य ! कथ्यते तथ्यं, माघसेवां कुरुष्व तत् ॥ १३

कीर्तिरर्जुनतोऽनल्पं नेमीश्वरमुपाश्रिता । एकेन भारतेनोक्तिः, कृतिः कुन्दस्य... ॥ १४

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा, कवयो मौनमाश्रिताः । बाणध्वनावनध्यायो, भवतीति स्मृतिर्यतः ॥ १५

वचनं धनपालस्य, चन्दनं मलयस्य च । सरसं हृदि विन्यस्य, कोऽभूलाम न निर्वृतः ॥ १६

---

१ "मन्यस्याप्ये" (सिद्धहेमसूत्र २-२-६२) इति सूत्रेण चतुर्थी, श्रिय कर्तुं सन्तु इत्यर्थः इति टिप्पणी धा० पुस्तके ॥ २ पार्वत्याम्, पक्षे पर्वतभूमौ धा० टि० ॥ ३ स्तना मेघाश्च धा० टि० ॥ ४ उल्लसन् चन्द्रो यस्य "शेषाद्वा" (सिद्धहेम ७-३-१७५) इति बहुव्रीहौ कप्, पक्षे चन्द्रकाः पादरमा इति स्या. धा० टि० ॥ ५ ईश्वरो मयूरश्च धा० टि० ॥ ६ चाऽऽहू° प्र० पाल० ॥ ७ 'तमहं च' प्र० । 'तमयं च' इति स्थाने 'तमिदं च' इति संशोधित पाठ धा० ॥ ८ 'पार्स्ति स' मु० ॥ ९ स्थापनामन्त्रैः धा० टि० ॥ १० स्थापयन्ति धा० टि० ॥ ११ पक्षे श्रवणो यो दशरथेन हतः धा० टिप्पणी ॥ १२ कृष्णद्वीपायनव्यासः धा० टि० ॥ १३ देवाः, पक्षे शोभना अधिकाराः धा० टि० ॥ १४ अनितम् अर्जुनस्य-पार्थस्य बल येन तम्, अर्थाद् युधिष्ठिरम्, पक्षे अर्जुनं-निर्मलम् धा० टि० ॥ १५ नमीश्वरं-चन्द्रम् धा० टि० ॥ १६ बाणः कवीश्वरः शराश्च धा० टि० ॥ १७ अणोऽहड धा० टि० ॥

विरहाङ्कस्य कवेः प्राप्तप्रसादेव सरस्वती । नीयते जातु काल्ष्यं, दुर्जनैर्न घनैरपि ॥ १७
सदा हृदि वहेम श्रीहेमसूरेः सरस्वतीम् । सुधया शब्दरत्नानि, ताम्रपर्णी जिता यया ॥ १८
स्तुमः सुमनसां श्रेष्ठं, नीलकण्ठमहर्निशम् । दर्पकोपचितं यस्य, सर्वज्ञस्य न मानसम् ॥ १९
श्रीप्रह्लादनदेवोऽभूद्, द्वितयेन प्रसिद्धिमान् । पुत्रत्वेन सरस्वत्याः, पतित्वेन जयश्रियः ॥ २०
श्रीभोज-मुञ्जदु:खार्ता, रम्यां वर्तयता कथाम् । प्रह्लादनेन साह्लादा, पुनश्चक्रे सरस्वती ॥ २१
कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च, नरचन्द्रो जयत्ययम् । प्रशस्तिर्यस्य काव्येषु, सङ्क्रान्ता हृदयाद्विव ॥ २२
मुनेर्विजयसेनस्य, सुधामधुरया गिरा । भारतीमञ्जुमञ्जीरस्वरोऽपि परुषीकृतः ॥ २३
सुभटेन पदन्यासः, स कोऽपि समितौ कृतः । येनाधुनाऽपि धीराणां, रोमाञ्चो नापचीयते ॥ २४
स्वयात्रपाकेन यो वाचां, पाके हास्यपरान् कवीन् । स्वयं हरिहरः सोऽभून्, कवीनां पाकशासनः ॥ २५
न माघः श्लाघ्यते कैश्चिन्नाऽभिनन्दोऽभिनन्द्यते । निष्कलः कालिदासोऽपि, यशोवीरस्य सन्निधौ ॥ २६
प्रकाश्यते सदा साक्षाद्, यशोवीरेण मन्त्रिणा । मुखे दन्तयुता ब्राह्मी, करे श्रीः स्वर्णमुद्रया ॥ २७
अर्जितास्ते गुणास्तेन, चाहमानेन्द्रमन्त्रिणा । विधेरप्येष नन्दिन्यौ, यैरनेन नियन्त्रिते ॥ २८
वस्तुपाल-यशोवीरौ, सत्यं वाग्देवतासुतौ । एको दानस्वभावोऽभूदुभयोरन्यथा कथम् ? ॥ २९

सज्जन-दुर्जनवर्णना

हृद्या वाद-परिमलाः, निष्पापाः कल्पद्रुमाः । अमाल्पिष्टतो दोषाः, श्रीयातं सन्तु साधवः ॥ ३०
साधूनां दुग्धता काचित्किञ्चिन्नैव तथाहि ये । पयसामेव गृह्णन्ति, गुणान् गरिगुणा अपि ॥ ३१
रमयन्ति न कं नाम, सन्तश्छायाद्रुमा इव । पुष्यन्ति स्मितपुष्पं ये, सूचितोर्ध्वफलोदयम् ॥ ३२
अमृतैर्मानसं मन्ये, सम्पूर्णं सततं सताम् । स्यन्देनेव तदीयेन, वाचो मुञ्चन्ति नाऽऽर्द्रताम् ॥ ३३

अश्रुप्रवर्तकैर्धूमैरिव किं तैरसाधुभिः ? । रसवत्या कवेर्दृष्टौ, मालिन्यं जनयन्ति ये ॥ ३४
वृश्चिकानां भुजङ्गानां दुर्जनानां च वेधसा । विभज्य निहितं स्थाने, विषं पुच्छे मुखे हृदि ॥ ३५
अस्मिन् कलौ खलोत्सृष्टदुरुक्ताग्रागदारुणे । कथं जीवन्ति नाम स्युः, सन्नाहाः सज्जना यदि ? ॥ ३६
निदानं नात्र पश्यामि, यदुद्वेजयति दुर्जनाः । आक्रोशन्ति भृशं साधूनुत्सवानिव कुर्कुराः ॥ ३७
दोषलेशेन रञ्जित्, सह साधुजनैः सभा । व्याख्याक्षरमूर्तेव, सहसा धत्तरासभा ॥ ३८
दुर्जनैस्तर्ज्यमानस्य, माधोऽधिकमेधते । भस्मनिर्घृष्यमाणस्य, मुकुरस्येव चारुता ॥ ३९

आस्तां तावत् खलक्रोधः, सन्तर्जितोऽपि दुर्जनः । कष्टाय जायते दृष्टो, गलैशनिव वायसः ॥ ४०
दुर्जनानां छिद्रदर्शयानि मृषेव यत् । निर्मोकभासिना तेषामुचिता मतिजिह्वता ॥ ४१
अस्मिन्नसमयाम्भोदे, खलेनाम्रमहाद्रुमे । चन्द्र सज्जनाऽऽतपा, स्निग्धबन्धीभवन्तु मे ॥ ४२

१ कविम्, पक्षे ईश्वरम् पा० टि० ॥ २ 'र्यविह्वलस्य' मु० ॥ ३ मिश्री-प्रमाणपत्रे ग ग घोऽपि पदन्यासः कृतः । पक्षे सङ्ग्रामे सदृक्षेऽपि पा० टि० ॥ ४ निपुणे धीरत्वं च पा० टि० ॥ ५ कवीन् कल्पयित्वा हसतः पा० टि० ॥ ६ इन्द्रः पा० टि० ॥ ७ 'श्लोऽपि मतः' मा० ॥ ८ सत्तां सा' प्र० पा० ॥ ९, ११ (तृतीयैकवचनम् इत्यर्थे) पा० टि० ॥ १० औदार्यादय, पक्षे रज्जु पा० टि० ॥ ११ सहकार पा० टि० ॥ १२ हृदयानदः मु० ॥ १३ पुष्पन्ति मा० । पुष्यन्ति मु० ॥ १४ पार्श्वेन प्र० पा०॥ १५ 'तमांसि' प्र० ॥

भाति यत्र कपोलान्तसङ्क्रान्तेन्दुर्वधूजन । राजमुद्राङ्कित कोश, कन्दर्पनृपतेरिव ॥ ६७

यत्र यत्र प्रसर्पन्ति, सर्वत्र मृगीदृश । दासीव दृष्टिरयाति, तत्र तत्र विलासिनाम् ॥ ६८

दीक्षिता वल्लिप्रारं, तरुणीभिर्यत्र केऽपि[1] ये । मन्ये व्यावर्तिनाङ्गेन, तेऽनङ्गेनापि[2] ताडिता ॥ ६९

रूपेणाप्रतिमा कान्ता, यत्र धात्रा कृता स्त्रिय । तथापि प्रतिमास्तासा, सञ्जाता रत्नभित्तिषु ॥ ७०

स्नात्वा सरसि सौरभ्य, स्त्रीभ्यो यानादुपाहरन् । धर्मीसमीरण स्त्रैण, यत्र कामीव सेवते ॥ ७१

सिद्धसरोवर्णनम्

यस्मिन् सरो हरोपेन्द्रप्रासादैः परितश्चितम् । आमुक्तमौक्तिकं भूमेर्भात्येकमिव कुण्डलम् ॥ ७२

आभाति यस्य गर्भस्थ, सर स्मरैः सरोरुहै । खेलन्तीना सुरस्रोतोदेवताना मुखैरिव ॥ ७३

यस्याम्भसि गिरिशागारदीपिका[3] प्रतिबिम्बिता । शोभन्ते निशि पातालव्यालमौलिमणिश्रिय ॥ ७४

यस्योच्चैः सरसस्तीरे, राजते रजतोज्ज्वल । कीर्तिस्तम्भो नभोगङ्गाप्रवाहोऽध्वनरन्निव ॥ ७५

हरप्रासादसन्दोहमनोहरमिद सर । राजते नगर तच्च, राजहंसैरलङ्कृतम् ॥ ७६

सशङ्ख-चक्र प्रथितप्रभूतावतारशाली कमलाभिराम ।
स एष कासारशिरोवतस, कंसप्रहर्तु प्रतिमां बिभर्ति ॥ ७७

न मानसे[7] माद्यति मानसं मे, पम्पा न सम्पादयति प्रमोदम् ।
अच्छोदमच्छोदकमप्यसार, सरोवरे राजति सिद्धभर्तु ॥ ७८

प्रतितटघटितोर्मिघातजातप्रसमरफेनकदम्बकच्छलेन ।
हरहसितसितद्युति स्वकीर्ति, दिशि दिशि कन्दलयत्ययं तडाग ॥ ७९

भवकुलहरिलिप्तव्योमभागे तडागे, तरलतुहिनपिण्डापाण्डुडिण्डीरदम्भात् ।
तरुणतरगितापत्यापदापन्नमुच्चैरिह विहरति नाराचक्रवाल विशालम् ॥ ८०

एकत्र स्फुटदब्जराजिरजसा बभ्रूकृत सुभ्रुवा, प्रभ्रश्यत्कुचकुम्भकुङ्कुमरसैर्यत्र रक्तीकृत ।
अन्यत्र स्मितनीलनीरजदलच्छायेन नीलीकृत, श्रेय सिन्धुरवैर्गकम्बलधुरा धत्ते सरःशेखर ॥ ८१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये नगरवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥



१ °पि यत् प्र० मु० ॥ २ °पि पीडिता वा० ॥ ३ °दीपिका मु० ॥ ४ °चयप्रथित प्रभू° मु० ॥ ५ अवतारास्तीर्थाभिधा पक्षे 'मत्स्य १ कूर्मो २ वराह ३ च' इत्यादि दशावतारा धा० टि० ॥ ६ प्रतिमां प्र० ॥ ७ °से मध° मु० ॥ ८ देवसरोवरे श्रीसिद्धराजजयसिंहदेवस्य धा० टि० ॥ ९ हरिहरहसितद्युति मु० ॥ १० यत्पत्र प्र० वा० ॥ ११ "सेनाद्वालामुराच्छाया–" २ । ४ । २५ । इति न पुंस्त्वम् धा० टि० ॥ १२ °वर्ण्यक° प्र० ॥ १३ धुर मु० ॥

द्वितीयः सर्गः ।

चौलुक्यवंशवर्णनम्

अथ चौलुक्यभूपालः, पालयामास तत् पुरम् । जितराजसमाजः श्रीमूलराज इति श्रुतः॥ १

आवर्जिता जितारातेर्गुणैर्वर्णिरिपोरिव । गूर्जरेश्वरराज्यश्रीर्यस्य जज्ञे स्वयंवरा ॥ २

लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः । दुर्वारं वारपं हत्वा, हास्तिकं यः समग्रहीत् ॥ ३

सपत्राकृतशत्रूणां, सम्पराये स्वपत्रिणाम् । महेच्छः कच्छभूपालं लक्षं लक्षं चकार यः ॥ ४

दानोपद्रुतदारिद्र्यं, शौर्यनिर्जितदुर्जनम् । कीर्तिस्थगितककुस्थं, यो राज्यमकरोच्चिरम् ॥ ५

तस्मिन्नथ कथाशेषे, निःशेषितनिजद्विपि । राजा चामुण्डराजोऽभून्महीमण्डलमण्डनम् ॥ ६

विरोधिवनिताचित्ततापाध्यापनपण्डिताः । यदीयाः कटकारम्भाः, कृतजम्भारिभीतयः ॥ ७

पाणिपङ्कजवर्तिन्या, स्फुरत्कोशविलासया । यस्यासिभ्रमरश्रेण्या, भिन्ना वंशाः क्षमाभृताम् ॥ ८

लोकत्रयोल्लसत्कीर्तिर्महीपतिमतल्लिका । राजा वल्लभराजाख्यस्ततस्तत्तनुभूरभूत् ॥ ९

सम्भूतकम्पसम्पत्तेर्यदातङ्केन केनचित् । जगाल मालवेशस्य, करवालः करादपि ॥ १०

उपरुन्धन् विरुद्धानां, पुरीं पुरुषपौरुषः । जगज्झम्पन इत्येष, विशेषेणोदीरितः ॥ ११

बभूव भूपतिस्तस्यावरजो विरजस्तमाः । श्रीमान् दुर्लभराजाख्यः, सुदुर्लभयशाः परैः ॥ १२

कालेन करवालेन, भोगिनेवाभिरक्षितम् । निधानमिव यद्राज्यमनाहार्यं परैरभूत् ॥ १३

सर्वथाऽनुपभोग्येषु, यस्य सौभाग्यभासिनः । न करः परदारेषु, द्विजंसारेषु चापतत् ॥ १४

तस्य भ्रातृसुतः श्रीमान्, भीमाख्यः पृथिवीपतिः । विष्टपत्रितयाभीष्टप्रवृत्तिप्रतिभूरभूत् ॥ १५

मण्डलाग्रेण यः शौर्यशालिना विस्मृतश्रियम् । चकार भोजमम्भोजमिव पीयूषदीधितिः ॥ १६

एकधारापतिर्यस्य, द्विधारेणासिना जितः । किं चित्रं ? यदसौ जेतुं, शतधारमपि क्षमः ॥ १७

असौ गुणीति मत्वेव, भोजः कण्ठमुपेयुषा । धनुषा गुणिना यस्य, नश्यन्नश्वान्न पातितः ॥ १८

सुपर्णकेतनाभ्यर्णं, तत्र क्ष्मापतौ गते । धात्रीं पौत्रीमिव तत्पुत्रः, श्रीकर्णः सार्णवां दधे ॥ १९

गुरुणा विक्रमेणार्य, बभूव पितृसन्निभः । आकारेण तु रूप्येण, भूपोऽभूदात्मभूसदृक् ॥ २०

विना कर्णेन तेन स्त्रीनेत्राणां न रतिः क्वचित् । इतीव जज्ञिरे तेषामुपकर्णं प्रवृत्तयः ॥ २१

---

१ नारायणस्य धा० टि० ॥ २ अत्यन्तपीडिताः धा० टि० ॥ ३ समासे धा० टि० ॥ ४ स्वधनुषाम् धा० टि० ॥ ५ महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षीचकार मु० ॥ ६ उदारः धा० टि० ॥ ७ लाघव इति सामान्यम् धा० टि० ॥ ८ लक्षीचकार मु० । वेध्यम् धा० टि० ॥ ९ 'यदत' मु० ॥ १० कोशः खड्गपिधानकम्, पक्षे कुड्मलम् धा० टि० ॥ ११ लोकोत्तरल्लस' मु० ॥ १२ 'तत्करप' मु० ॥ १३ मालवधनेषु धा० टि० ॥ १४ खड्गेन, पक्षे प्रधानमण्डलेन धा० टि० ॥ १५ तीक्ष्णरश्मि, पक्षे शीतरश्मि धा० टि० ॥ १६ हास्य विद्यावय धा० टि० ॥ १७ नारायणसमीपम्, शार्ङ्गमित्यर्थः धा० टि० ॥ १८ 'श्रीं धात्रीप्रपौत्री च धौं' मु० ॥ १९ वराहः धा० टि० ॥ २० 'पामनुक' मु० ॥

तत्कर्णार्जुनयोर्वैरं, पूर्वं कर्णं स्मरन्निव । अर्जुनं गमयामास, यशो देशान्तराणि यः ॥ २२

अभिरामगुणग्रामो, रामो दशरथादिव । सूनुः श्रीजयसिंहोऽस्माज्जायते स्म जगज्जयी ॥ २३
शिशुनाऽपि शुनासीरवीरवृत्तिमतामुना । रणे भुजिष्यतां नीताः, पिशुना येन भूभुजः ॥ २४
अपारपौरुषोद्गारं, खङ्गारं गुम्मसंग । सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ, करिणं केसरीव यः ॥ २५
असङ्ख्यहरिसैन्येन, प्रक्षिप्तानेकभूभृता । बद्धः सिन्धुपतिर्येन, वैदेहीप्रियतेन वा ॥ २६
अमर्षणं मनः कुर्वन्, विपक्षोर्वीभृदुन्नतौ । अगस्त्य इव यस्तूर्णमर्णोराजमशोषयत् ॥ २७
गृहीत्वा दुहिता तूर्णमर्णोराजस्य विष्णुना । दत्ताऽनेन पुनस्तस्मै, भेदोऽभूद्द्वयोरयम् ॥ २८
द्विषां शीर्षाणि लूनानि, दृष्ट्वा तत्पादयोः पुरः । चक्रे शाकम्भरीशोऽपि, शङ्कितः प्रणतं शिरः ॥ २९
मालवस्वामिनः प्रौढकर्मापरिवृढः स्वयम् । समित्सुपरमारो यः, परमारानमारयत् ॥ ३०
क्षिप्त्वा धारापतिं राजशुकवत् काष्ठपञ्जरे । यः काष्ठापञ्जरे कीर्तिराजहंसी न्यवीविशत् ॥ ३१
एकैव जगृहे धारा, नगरी नरवर्मणः । दत्ता येनाश्रुधारास्तु, तद्वधूनां सहस्रधा ॥ ३२
धारामङ्गमसङ्गेन, यस्याऽऽमत्तस्य शङ्कितः । प्राभृतकमिषाद् दण्डं, महोबकपतिर्ददौ ॥ ३३
सुधेव वसुधा लब्धुं, पाल्यिता येन विद्विषा । यस्योल्लसदसिग्राहे, राहुचक्रे तमाहवे ॥ ३४
जनेन मेने यः स्वामी, कुमार इव शक्तिमान् । ताम्रचूडध्वजः सोऽभूत्, किन्तु केकिध्वजः परः ॥ ३५
येन विश्वैकवीरेण, न स राजा जितो न यः । काष्ठा काऽपि न सा यस्य, यशोभिः शोभिता न या ॥ ३६
गणेशस्येव यस्याग्रपुष्करस्य उपस्थिते । आत्मसारः करस्थोऽभूद्, गौडो मोदकवन्नृपः ॥ ३७
श्मशाने यातुधानेन्द्रं, बद्ध्वा बर्बरकाभिधम् । सिद्धराजेति राजेन्दुर्यो जज्ञे राजराजिषु ॥ ३८
रजोभिः समरोद्भूतैर्यत् पुरा मलिनीकृतम् । तत् पश्चात् कीर्तिकल्लोलैर्येन क्षालितमम्बरम् ॥ ३९

महीमण्डलमार्तण्डे, तत्र लोकान्तरं गते । श्रीमान् कुमारपालोऽथ, राजा रञ्जितवान् प्रजाः ॥ ४०
पृथुप्रभृतिभिः पूर्वैर्गच्छद्भिः पार्थिवैर्दिवम् । स्वकीयगुणरत्नानां, यत्र न्यास इवार्पितः ॥ ४१
न केवलं महीपालाः, सायकैः समराङ्गणे । गुणैर्लोकम्पृणैर्येन, निर्जिताः पूर्वजा अपि ॥ ४२
क्षुद्रकैकरतेर्यस्य, मृगयितानि मुञ्चतः । देवस्येव नृदेवस्य, युक्ताऽभूद्व्रतार्थिना ॥ ४३
करवालजले स्नाता, वीराणामेव योऽग्रहीत् । धौतां बाष्पाम्बुधाराभिर्निर्वीरीणां न तु श्रियम् ॥ ४४
शूराणां सम्मुखान्येव, पदानि समरे ददौ । यः पुनस्तत्कलत्रेषु, मुखं चक्रे पराङ्मुखम् ॥ ४५
हृदि प्रविष्टयद्बाणकीटेनाघूर्णितं शिरः । जाङ्गलक्षोणिपालेन, व्याचक्षाणे परैरपि ॥ ४६
शृङ्गारलप्रभाकर्णं, नम्रं गर्वादकुर्वतः । कृपाणः कुङ्कणेशस्य, यश्चकार [illegible] शिरः ॥ ४७

---

१ इन्द्र वा० टि० ॥ २ वा इत्यर्थे वा० टि० ॥ ३ 'राधामप' मु० ॥ ४ यस्य साक्षित्वदा' मु० ॥ ५ महोदयपति' प्र० वा० ॥ ६ एतच्छ्लोकानन्तरमस्मत्समीपस्थप्राचीनप्रतिद्वयेऽप्यनुपलभ्यमानं मुद्रितपुस्तके टिप्पण्यामधिकमेकं पद्यं निर्दिष्टं वर्तते । तथाहि—

महोयकपुराधीशाज्जितान्मदनवर्मणः । कोटीः षण्णवतीर्हेम्नो, यस्तन्मानमिवाऽऽददे ॥

७ रण पुष्पम्, पक्षे मूत्रम् वा० टि० ॥ ८ यत्र वा० ॥ ९.... .. ..रते' प्र० । वीतरागरते मु० । मुद्रितपुस्तकगतोऽयं पाठः केनचिद् रिक्तस्थाने कल्पयित्वा पूरितः, न चासौ समीचीन इति ॥ १० 'राणां पु न धि' प्र० वा० । निःपतिगुणाना वा० टि० ॥

रागाद् भूपालवल्लाल-मल्लिकार्जुनयोर्मृधे । गृहीतौ येन मूर्धानौ, स्तनाविव जयश्रियः ॥ ४८

दक्षिणक्षितिपं जित्वा, यो जग्राह द्विपद्वयम् । तद्यशोभिः करिष्यामो, विश्वं नत्यद्विपद् वयम् ॥ ४९

विहारं कुर्वता वैरिवनिताकुचमण्डलम् । महीमण्डलमुद्दण्डविहारं येन निर्ममे ॥ ५०

पादलग्नैर्महीपालैः पशुभिश्च तृणाननैः । यः पार्थिव इवात्यर्थमहिंसाव्रतमग्रहीत् ॥ ५१

भूपालोऽजयपालोऽभूत्, कल्पद्रुमसमस्ततः । चक्रे वसुन्धरा येन, काञ्चनैरनकिञ्चना ॥ ५२

दण्डे मण्डपिका हैमी, सह मन्त्रैर्मतङ्गजैः । दत्वा पादं गले येन, जाङ्गलेशादगृह्यत ॥ ५३

जामदग्न्य इवोद्दामधामभर्त्सितभास्करः । क्षत्त्रासृक्क्षालितां धात्रीं, श्रोत्रियसाच्चकार यः ॥ ५४

दानानि ददतो नित्यं, नित्यं दण्डयतो नृपान् । नित्यमुद्वहतो नारीर्यस्याऽऽसीत् त्रिगुणः स्मरः ॥ ५५

धृतपार्थिवनेपथ्ये, निष्क्रान्तेऽत्र शतक्रतौ । जयन्ताभिनयं चक्रे, मूलराजस्तदङ्गजः ॥ ५६

चापलादिव बालेन, रिङ्गता समराङ्गणे । तुरुष्काधिपतेर्येन, विप्रकीर्णा वरूथिनी ॥ ५७

पश्चिमम्लेच्छकङ्कालस्थलमुच्चैर्विलोकयन् । पितुः प्रालेयशैलस्य, न स्मरत्यर्बुदाचलः ॥ ५८

द्रुतमुन्मूलिते तत्र, धात्रा कल्पद्रुमाङ्कुरे । उत्सगामानुजन्माऽस्य, श्रीभीम इति भूपतिः ॥ ५९

भीमसेनेन भीमोऽयं, भूपतिर्न कदाचन । बकापकारिणा तुल्यो, राजहंसदसक्षम ॥ ६०

मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च, बलवद्भिः शनैः शनैः । बालस्य भूमिपालस्य, तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१

वीरधवलवंशवर्णनम्

अथ तत्रैव चौलुक्यवंशे शाखान्तरोन्नतः । अर्णोराजः स राजर्षिस्तं ममर्प न विप्लवम् ॥ ६२

धवलस्य सुतेनापि, तेन कृष्णानुकारिणा । राष्ट्रं निष्कण्टकीकर्तुमारेभे सुभटेन तत् ॥ ६३

विस्फुरत्तीव्रहेतीनां दवानामिव सर्वतः । दुष्टानां व्यथितानिष्टं, यत्कृपाणपयोधरः ॥ ६४

विचिन्वता रुचिं हैमीं, द्विषदुद्वेगदायिना । व्याप्तं यस्य प्रतापेन, यशसा च जगत्त्रयम् ॥ ६५

आ सम्भवाद्दुरूढस्य, निर्व्यूढस्य च सङ्गरे । प्राणोत्थापनं चक्रे, निजशौर्यव्रतस्य यः ॥ ६६

तत्पुत्रः प्रसरत्कीर्तिपताकाचुम्बिताम्बरः । श्रीलावण्यप्रसादोऽस्ति, प्रासादः शौर्यसम्पदः ॥ ६७

आकाशमिव चन्द्रेण, पारीन्द्रेणेव काननम् । रम्यं तथाऽनतिक्रम्यं, कुलं येन बभूव तत् ॥ ६८

जग्ने येनासिदण्डेन, गाढं, नड्डूलनायकः । निर्घातेनैव तेनामी, कम्पन्तेऽद्यापि भूभृतः ॥ ६९

न चौरास्तस्य सौराज्ये, दौरात्म्यं कुर्वते क्वचित् । स्वयमेव पुनः कीर्तिं, हरति प्रतिभूभुजाम् ॥ ७०

तेजस्तदिह दान्तारि, दशमस्तक-लङ्कयोः । बभूव भुजयोर्यस्य, राम-लक्ष्मणयोरिव ॥ ७१

पुण्डरीकं दधत्येकं, राजहंसाननेकशः । आकृष्टारियशःफेना, प्रेंस्ये यस्य वाहिनी ॥ ७२

समन्ततोऽपि सामन्तगोत्रभैर्निस्तुलोत्कैर्भिः । नाऽऽसीन्नृपतिनागस्य यस्य संग्रामतिस्तुतिः ॥ ७३

पुरो मन्दरवद् वीरस्य यं निष्कम्पतया स्थितम् । विनिवृत्तमुपेयापि, धारार्धीशपयोधिना ॥ ७४

दक्षिणः क्षोणिपालोऽपि, घनसैन्योऽप्यविक्रमः । येन तद्विपरीतेन, परित्यजति विक्रमम् ॥ ७५

---

१ श्रोत्रियस्य हस्ते श्रोत्रियसात्करोति या० टि० ॥ २ चतुरायः या० टि० ॥ ३ चैव या० टि० ॥
४ °र्णा विरू° प्र० या० ॥ ५ °श्चिमं नाममंत पिरू° मु० ॥ ६ वितन्व° या० ॥ ७ °पसुदे° या० ॥
८ नड्डूल° या० । नड्डुल° मु० ॥ ९ °स्तत्र सौ° मु० ॥ १० °स्ये तस्य मु० ॥

श्रीवीरधवलस्तस्य, सूनुर्वीरशिरोमणि । युद्धे जयश्रियं धन्वज्यारावैराजुहाव य॰ ॥ ७६

आत्मानमात्मजे तस्मिन्नशेषगुणभूषणम् । स पिता दर्पणप्राये, सङ्क्रान्तमिव पश्यति ॥ ७७

बाहुभ्यामिव विक्रान्तो, दन्ताभ्यामिव कुञ्जरः । अपृथ॰ पितृपुत्राभ्यां, वंशस्ताभ्यां बभूव स॰ ॥ ७८

वृतविश्वमुदाऽनेन, दानेन प्रतिवासरम् । सुतेन जनता तेन, तातेन च समृध्यते ॥ ७९

अप्यरातिशराघातजातव्रणनतोन्नते । वीरलक्ष्मीश्चिरं यस्यै, वस्तुं वक्षसि वाञ्छति ॥ ८०

वीर समरकासारे, शिरोभि सह वैरिणाम् । करीव पुण्डरीकाणि, कन्दयुक्तानि योऽग्रहीत् ॥ ८१

अरातिराजन्यशराभिघातै, प्रघातभूमौ पतितोत्थितो य ।
गम्भीरवीरेन्द्रबलाम्बुराशेर्लब्ध्वैव गाध पुनरुन्ममज्ज ॥ ८२

अथैकदा कन्दलितप्रतापसन्तापिताशेषविपक्षपक्ष ।
निशावसाने न निशातबुद्धि, प्राबुध्यत श्रीलवणप्रसादः ॥ ८३

प्रबुद्धमात्रोऽपि कुमारपुत्रमाकारयामास नृपावतंस ।
पुरोधसे तत् किल रात्रिदृष्ट, शिष्टाय तस्मै विनिवेदयिष्यन् ॥ ८४

समेत्य सोमेश्वरदेवनामा, नमस्य ते[1] स्वस्ति निगद्य चास्मै ।
प्रसन्नमूर्ते पुरत स तस्य, दत्तादरो विष्टरमाससाद ॥ ८५

पुरस्कृतस्यास्य पुर पुरारिप्रसादलब्धं लवणप्रसादः ।
वीरेण तेनानुगत सुतेन, तं स्वप्नमित्थ कथयाम्बभूव ॥ ८६

जानेऽद्य विद्याधरसुन्दरीभिर्द्वारीगृहद्वारविहारिणीभि ।
शृङ्गारितं शृङ्गमहं महाद्रेरारूढवानूढवृषध्वजस्य ॥ ८७

कृतासन तन्मणिवेदिकाया, जायाङ्कितार्धतनु दधानम् ।
प्रसन्नतस्त्र्यम्बकमहं सिताब्जैर्गणपतिं पूजयितुं प्रवृत्त॰ ॥ ८८

निरूप्य पूजामथ गन्धसारै, समाधिमुद्रा विदधामि यावत् ।
तावद् पुरे कापरि वामनेत्रा, शशाङ्कविम्बाऽऽकारकान्तमपश्यम् ॥ ८९

श्वेतांशुतुल्यं वदनं वहन्ती, श्वेतांशुका श्वेतविलेपना वाम् ।
श्वेता कराग्रे दधती च मालामालोक्य बालामतिविस्मितोऽस्मि ॥ ९०

कस्यासि ? काऽसि ? त्वमिहासि कस्मादिति ब्रुवे यावदुपागता ताम् ।
तावत् तयैवाभिहितोऽस्मि कान्तदन्तद्युता दत्तसितातपत्र ॥ ९१

हे वीर ! वैरिश्रिजिनीगजेन्द्रगर्वस्थं गेहाद्गतमङ्गचण्ड ! ।
प्रयर्थिमार्थेन पदर्थ्यमाना, जानीहि मां गूर्जरराज्यलक्ष्मीम् ॥ ९२

---

१ ततः मु॰ ॥ २ 'स्य पार्श्वं पश्च' मु॰ ॥ ३ प्रपात' प्र॰ ॥ ४ 'लब्धपायगा' प्र॰ । 'लब्धेर-गाधं मु॰ ॥ ५ पा॰ आदर्शे पदयोर्दर्शनद्वारा नमस्यते इति एक पद दर्शितमस्ति ॥ ६ कुम्भम् प्र॰ टि॰ ॥ ७ ईश्वर पा॰ टि॰ ॥ ८ कंजात प्र॰ टि॰ ॥ ९ ध्यानम् प्र॰ टि॰ ॥ १० पुनः मु॰ ॥ ११ 'त्वामिति' पा॰ ॥ १२ 'रीमण्डनमण्डपाण्ड पा॰ मु॰ ॥ १३ 'राजल' मु॰ ॥

दिवं गतास्ते बत ! गूर्जरेन्द्रास्ते कुञ्जरेन्द्राश्च हृताः सपत्नैः ।
येषां क्षमाभृद्दलनक्षमेषु, भुजेषु दन्तेषु च मे निवासः ॥ ९३

यो वर्तते सम्प्रति चक्रवर्तिपदेऽत्र बालः स बलान्यरीणाम् ।
क्षमः समग्राणि न निग्रहीतुं, दीपस्तमांसीव तटस्थितानि ॥ ९४

ये मन्त्रिणो येऽत्र च माण्डलीकास्तेषु क्रमो नास्ति पराक्रमोऽस्ति ।
प्रतिक्रिया काऽस्तु ततोऽस्ति येषां, कामो मयि स्वामिपरिग्रहेऽपि ॥ ९५

आस्ते सहस्तः स पुमान् न कोऽपि, यो मामिमामुद्धरते निमग्नाम् ।
महीतुमेते हि सतां विभूतिं, मतं वितन्वन्ति नराः कराणाम् ॥ ९६

सौवस्तिको नास्ति स आमशर्मा, यमार्पितं येन सुधर्मजा मे ।
गतः स मुञ्जालसुतश्च मन्त्रैर्यः क्षत्रसर्पानकरोद् विदर्पान् ॥ ९७

न राष्ट्रकूटान्वयकैटभारिः, प्रतापमल्लोऽस्ति मृधैकमल्लः ।
गन्धोऽपि मत्तारिमतङ्गजानां, गन्धद्विपेनेव न येन सेहे ॥ ९८

विना जगद्देवमिमामवस्थां, नीता निजैरेव परैरिवाहम् ।
यत्र स्थिते वैरिणि शङ्कितैर्न, द्विपैः प्रविष्टं पुरि गूर्जराणाम् ॥ ९९

अथालवेदाम्बुधिरोधसा च, पुरोधसा तेन कुमारनाम्ना ।
विनाऽद्य चैद्यक्षितिपाललक्ष्मीं, को मे करिष्यत्यरः सपत्नीम् ? ॥ १००

या मूलराजान्वयजातराजतेजोभिरासीद् विरमत्तमस्का ।
निशागमे साम्प्रतमुद्वसायां, तस्यां न दीपोऽपि नरेन्द्रपुर्याम् ॥ १०१

निरन्तरं सञ्चरतां गजानां, या डिण्डिमैर्डमरा ध्वनद्भिः ।
एकाकिनी रात्रिषु गूर्जराणां, सा फूत्करोतीव शिवारवैः पूः ॥ १०२

क्रीडावतीनां नगराङ्गनानां, वस्त्रैः सदा यत्र सरोजसत्त्वा ।
सरस्तदश्रूणि किरत्यनाथं, वातास्तपायःकणकैतवेन ॥ १०३

मुण्डेव खण्डितनिरन्तरवृक्षखण्डा, निष्कुण्डलेव दलितोन्नतवप्रा ।
दूरादपास्तविषया विधवेव दैन्यमभ्येति गूर्जरधराधिपराजधानी ॥ १०४

तन्मां स्वचक्र-परचक्रकृतावशेषां, निःशोषिताखिलसपत्न ! समुद्धरस्व ।
यस्मादमानवचरित्रपवित्रितेन, सम्भावनाऽत्र भवता भुवनेऽर्जिताऽसौ ॥ १०५

एकेन केशिरिपुणा विधृतं यदुच्चैर्भारेण मङ्क्षु रमितामुरभूपतीनाम् ।
तद्वीर ! वीरधवलेन सुतेन भूयः, सम्भूय भूवलयमुद्धर सम्प्रति त्वम् ॥ १०६

---

१ हताः प्र० वा० ॥ २ तु प्र० वा० ॥ ३ मुञ्जाल° मु० ॥ ४ राष्ट्रौड पा० टि० ॥ ५ °र धैर्य° वा० ॥ ६ °रजस्य° मु० ॥ ७ सा फूत्क° मु० ॥ ८ तस्मात् स्व° मु० ॥ ९ तद्वीर ! वा० ॥

व्याहृत्य कृत्यमिति सा सहसा च कण्ठपीठे निवेश्य विशदामिह पुष्पमालाम् ।
कुत्रापि तत्र भगवती सह निद्रया मे, याताऽथ यूयमिह जल्पत नै किमेतत् ? ॥ १०७

इत्थं वदत्यथ हरिप्रतिहस्तकोऽसौ, सौवस्तिकेन जगदे जगदेकवीरः ।
स्वप्नोऽयमर्थमकदर्थनया ददानो, व्याख्यानमिच्छति भवानिव नैव देव ! ॥ १०८

राजन्य ! धन्यतममन्यमहं न मन्ये, प्रस्तौमि वीरभुजवैभवतो भवन्त ।
या न स्पृशत्युपकृतानपरान् कदापि, यत् त्वामुपेत्यमिव सा वृणुते स्वयं श्रीः ॥ १०९

गुणाढ्यनामसदृशान्वयसम्भवाना, न श्लाघ्यते जगति केन कुलाङ्गनाऽसौ ? ।
अधोमुखीभवति दुःखितप्रवृत्तौ, या सद्धरन्त्यनिरपायसुनौ नु पश्चात् ॥ ११०

उत्पन्नमेव ध्रुवमिव भूपगये, तदैव सम्मुखमुपैति न मातुलेना ।
दीपाङ्कुरा इव दशान्तमुपेयिवांसस्तेजो निजं मुकुलयन्ति च मन्दभाग्याः ॥ १११

आनीतवानसि गुणैः सुकृतैः स्वधर्मैर्यैर्ददत्या नृपश्रियमिमा सुभटोपभोग्याम् ।
मन्मन्त्रिभिस्तदनुगृह्य मनुष्यमूर्ते !, व्याचष्टे नहि यथा स्वकैरसौ स्थिताऽसौ ॥ ११२

इत्यद्भुतं क्षितिभुजः श्रियमभ्यधत्त, तीया समुन्नयति मतिसुभ्र पुनस्तम् ।
रत्नाकरी जगपथो जनयन्ति किन्तु मस्ताग्ल मन्दारगम करोति ॥ ११३

दिवा विविधवर्णितानुरक्ताऽप्युत, तेजश्च शौर्यपरो बलात् निपुण ।
गुणग भूभावनुलग्न नियमा, विना नगर सचिवपु दुर्विनीतेषु ॥ ११४

अथ दृष्टाध्वान्तधानस्य प्रभाते, स च नृपतिरुच्चैः मम गतोपदेशम् ।
स च परिवर्तादि गुर्जराणां शिष्टप्रतिरिवशेषतस्तु वर्षे गाप्यं शिष्टानुग ॥ ११५

॥ इति गुर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये नरेन्द्रवंशवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

—⋘卐⋙—

तृतीयः सर्गः ।

वस्तुपालवंशवर्णनम्

रसालङ्करणे तस्मिन्नालवालानुकारिणि । प्रांशुः प्राग्वाटवंशोऽभूत्, पुरे गूर्जरभूभुजाम् ॥ १

क्वचि साराः परे वंशाः, सदा पत्राणि बिभ्रति । क्रियासारैश्च वंशोऽयं, धत्ते पात्रपरम्पराम् ॥ २

नररत्नैर्यदुत्पन्नैरद्भुताद्भुतकान्तिभिः । विभूषिता विशेषेण, जगतीव सरस्वती ॥ ३

मन्त्रिमण्डलमार्तण्डश्चण्डपः प्रथमः पुमान् । कुले तस्मिन्नुदेति स्म, तमसामवसानकृत् ॥ ४

चाणक्यादिव चातुर्यं, गिरमाङ्गिरसादिव । अम्भोधेरिव गाम्भीर्यं, यः शुभैकाग्रहोऽग्रहीत् ॥ ५

न च्छिद्रं क्षुद्रमप्यत्र, मन्त्रिरत्ने निवेशितम् । धात्रा केन प्रकारेण, सोऽनुस्यूतगुणः कृतः ? ॥ ६

मानी नामन्यत श्लाघ्यां, यः श्रियं सरसीरुहाम् । यैर्मनागपि न म्लानैर्निपादावधीरितैः ॥ ७

तद्भूश्चण्डप्रसादोऽभूत्, गङ्गाडिण्डीरपाण्डुभिः । यशोभिः ककुभां येन, चक्रे श्रीखण्डमण्डनम् ॥ ८

कदाचिदपि न त्यक्तः, पाणिपद्मगृहीतया । गेहिन्येव वदान्योऽयं, नृपव्यापारमुद्रया ॥ ९

मृदुर्वाणी मतिस्तीक्ष्णा, साधुः श्रीः कीर्तिरुज्ज्वला । वीतरागं मनो यस्य, स्फीतरागं करद्वयम् ॥ १०

यः पराभूतकर्पूरैः, कीर्तिपूरैर्निरन्तरम् । चिरं विरचयामास, राकामाकालिकीमिह ॥ ११

सोमः समुद्रतस्तस्मादुज्जगाम मनोरमः । सवित्री जातमात्रेण, येन द्यौरिव दिद्युते ॥ १२

अपूर्वः कोऽपि सोमोऽयं, कलङ्कविकलाकृतिः । न हि मार्गं पुरस्कारं, चक्रे भावं च नो भवे ॥ १३

निदधे गुणरत्नानां, यत्र कोशः स्वयम्भुवा । तत्र श्रीसिद्धराजोऽपि, रत्नकोशं न्यवीविशत् ॥ १४

स्वं मेने येन सोमेन, पूर्णेनाभ्यर्णवर्तिना । गृहीतानन्तभोगः श्रीसिद्धेशोऽधिकमीश्वरात् ॥ १५

सावित्रं बिभ्रता तेजः, सीतां च सहचारिणीम् । काकुत्स्थेनेव येनापि, न सीतातिक्रमः कृतः ॥ १६

अमेयमहिमा श्रीमानश्वराजस्ततोऽभवत् । येन दानार्द्रहस्तेन, हस्तिराजोऽप्यजीयत ॥ १७

तैर्मार्गैर्निरन्तरत्यागस्थगिताश्रितदुःस्थितैः । निर्जरैरिन्द्रियैर्लब्धा, कामना न मनागपि ॥ १८

आनीतं न्यायतो वित्तं, व्ययितं धर्मकर्मसु । यशस्तु जगति स्तुत्यं, केवलं यस्य तिष्ठति ॥ १९

प्राकृतां रेणुकायाणां, स्मरन्ननुशयादिव । मातुर्विशेषतश्चक्रे, भक्तिं यः पुरुषोत्तमः ॥ २०

जनन्या जठरे मासान्नवुवास दशैव यः । हृदयाम्भोरुहे तस्य, यावज्जीवमियं पुनः ॥ २१

---

१ 'रस्यत्रं' प्र० बा० ॥ २ इच्छा तेजस प्र० टि० ॥ ३ तमसां दुष्टानाम् प्र० टि० ॥ ४ अन्त प्र० टि० ॥ ५ चाणिक्या' बा० ॥ ६ 'त्ने न्यधेशयत् । धात्रा(त्ता) के' मु० ॥ ७ यथापि प्र० टि० ॥ ८ इन-सूर्य, पाद-किरणाः, अवधीरित-अवगणित, अनस्तामीवादं प्र० टि० ॥ ९ अकालभवाम् प्र० टि० ॥ १० मरणे कामय प्र० टि० ॥ ११ भवः-संसारः शिवश्च प्र० टि० ॥ १२ श्रीसमिद्धः सोऽधिक' बा० । श्रीसमिद्धोऽधिक' मु० ॥ १३ सविश्या इदं सवितुरिदम् प्र० टि० ॥ १४ यस्मा' प्र० ॥ १५ निर्जैरिवे' मु० ॥ १६ 'गत स्तु' प्र० ॥ १७ पक्षणीं प्र० टि० ॥ १८ यस्य प्र० ॥

सतत सचिवश्रेणिमाणिक्यस्याङ्गसङ्गिनी । कान्ता कुमारदेवीति, तस्य कान्तिरिवाभवत् ॥ २२

स्वाभाविकेन शौचेन, मान्या सुमनसामपि । प्रवाहा इव जाह्नव्यास्तया सूता सुतास्त्रय ॥ २३

मुख्य श्रीमल्लदेवाख्यो, वस्तुपालाह्वयस्तत । तेजःपालाभिध पश्चात्, त्रयी भाति त्रयीव सा ॥ २४

पुरुषाणामिमास्तेषा, परेषामिव मूर्तय । त्रिधा निमिषमाना अप्येकैव परमार्थत ॥ २५

स्वय शुद्धेषु यत् तेषु, गुरुणा शौचनिक्षणम । घनसारपरागेण, मार्जन मौक्तिकेषु तत् ॥ २६

तैलप्य मल्लदेवेन, यश शुभ्र विभाव्य यैत् । शिरोर्निष्टे विप्ये दृष्ट, कैरव कैरवव्रज्या [१] ॥ २७

इयती मल्लदेवस्य, कौस्तुभेन विभिन्नता । जिनो हृदि यदेतस्य, जिनस्य त्वपर सदा ॥ २८

वस्तुत वस्तुपालस्य, सैव वेत्ति सत्त्वना । तदीयवदनाम्भोज, या वसत्यनुवासरम् ॥ २९

स्थित पुरुषयोर्मध्ये, पूर्वजानुजयोस्तयो । मन्यते मध्यम य स्वमुत्तम स जन पुन ॥ ३०

किमस्तु वस्तुपालस्य, मन्त्रीन्दो साम्यमिन्दुना [२] । यद् दत्ते वसुधाभ्य, सुधामेवापर पुन ॥ ३१

वृद्धि यशोराशान स प्राप्नोति यथा यथा । क्षमालङ्करण केषा नाश्रय स्यात् तथा तथा [३] ॥ ३२

षड्भिरव गुणैर्येन काऽपि कीर्तिपटी कृता । यमुपरा धाराऽम्भोधिसहिता विहिता यया ॥ ३३

गये मनसि साधूना, यो वसत्यनुवासरम् । यद्गुक्तोऽपि जानाते, विधत्ते च तदीप्सितम् ॥ ३४

अहङ्करोति नामान स्वङ्करोति न सद्गुरून् । य पुन प्रणनाम्भे हुङ्करोति विरोधिन ॥ ३५

दयिता ललितादेवी, यस्य सर्वाङ्गहारिणी । अर्धाङ्गहारिणी पत्यु, पार्वती हिमवती या ॥ ३६

तस्मादमात्यजीमूतात्, मुक्तेनेऽस्मिन् सुताङ्कुर ।
जयसिंहाह्वय सोऽय बालोऽपि फलित सताम् ॥ ३७

पूर्वे सर्वेऽपि तार्यन्ते, निस्तार्यन्ते तथाऽर्थिन । एतेन यस्य पोतेन, प्रतार्यन्ते न तु प्रजा ॥ ३८

तेजःपालः पुनस्तेषु सोदरेषु लघु किल । निजप्रभुप्रसादेन, गुरुणाऽपि न लङ्घ्यते ॥ ३९

छन्द शास्त्रे श्रुताऽस्माभिर्लघुताऽपि क्वचिद् गुरो । तस्मिन् बन्धुजने दृष्टा गुरुताऽस्य लघोरपि ॥ ४०

अश्वराजात्मजावेतौ, नासत्यावमृतौपधी । सम्प्रति प्रतिवुर्वाते, सर्वमप्यातुर जगत् ॥ ४१

अमी सुमनसस्तेन, स्पर्धन्तामुद्धता कथम् [४] । सोऽपि मद्बुद्धिना येन, जित सुमनसा गुरु ॥ ४२

अपूर्व तस्य वैदुष्य, यद् दिक्पाले स्वमुखा । समानैर्देशमि सार्धं, मन सन्धयशाभि मे ॥ ४३

शुभस्वभावमालोके, लोकेऽस्मिन्नेकमेव तम् । यदुक्त तत् करोत्येव, यत् कृत तत्र यति य ॥ ४४

उपहेत्य कृती पुसा विन्ने तेषा न केवलम् । अपि य स्तुतिश्लाघा, सचिवेन्दुर्गनस्पृह ॥ ४५

उपकर्ता सताम् वैरफ्कारयिता च य । हरते हि मरुत् ताप, हारयत्यपि वारिदे ॥ ४६

वाययेवोन्नति नीत , श्रिया तृणसम पुमान् । समा त्यजन्ति न तेप निरीयोदयन्नपि ॥ ४७

अपूर्वं मन्त्रिमाणिक्यं, चाणक्यमिह म मह । वसुधावलये येन सदानदोदय कृत ॥ ४८

यद्यप्यनुपमा नाम, प्रेयसी तस्य मन्त्रिण । मूषा तथापि मयेऽह्मेना मनाङ्गजामिव ॥ ४९

लावण्यसिंहनामान, सा लावण्यप्रवर्षिना । तनय जनयामास जिनसार्वजिनप्रजम् ॥ ५०

---

१ शौर्येण, मा॰ मु॰ ॥ २ यत्र मु॰ ॥ ३ सत् मु॰ ॥ ४ यत् मु॰ ॥ ५ 'इत्ये मु॰ ॥ ६ 'सचिवो दुर्ग' मु॰ ॥ ७ 'चाणिक्य' मा॰ ॥ ८ 'भिमम् मु॰ ॥

वस्तुपाल-तेजःपालयोः मन्त्रिमुद्रार्पणम्

भूमिभर्तुरथ कर्तुमिच्छतस्तस्य सत्पुरुषसङ्ग्रहं श्रिये ।
एकदा हृदयमागताविमौ, दक्षिणेतकरणाविवाम्बरम् ॥ ५१

तद्गुणान् निपुणया मनीषिणामग्रणीर्धिषणया विमृश्य सः ।
आजुहाव च समागतौ च तौ, कार्यसिद्धिरविलम्बिनी सताम् ॥ ५२

तत्र तौ ददृशतुः शतक्रतुप्रायमायतभुजं महीभुजम् ।
सानुजं च सचिवं स दृष्टवानर्थजुष्टमिव धर्ममग्रतः ॥ ५३

तावुपायनमुपायपण्डितौ, मण्डितौजसिकपद्धतेः पुरः ।
उद्गणय्य चरणद्वयं मुदा, तस्य वीरतरणेः प्रणेमतुः ॥ ५४

तेन येनतनयानुकारिणा, कर्तुमात्मकरणाधिकारिणौ ।
सप्रसादवदनेन सादरं, सोदरौ समुपवेशिताविमौ ॥ ५५

तस्य निर्दलितभूरिभूभृतः, स्वर्पतिप्रतिकृतेः कृतासनौ ।
अश्वराजतनुजौ रराजतुस्तौ सुरा-ऽसुरगुरूपमौ पुरः ॥ ५६

एतयोर्विनयनम्रमस्तकन्यस्तसम्पुटितपाणिपद्मयोः ।
निर्ममे समदशत्रुदन्तिनामङ्कुशः स कुशलानुयोजनम् ॥ ५७

नीरनीरदरवानुवादिना, नादयन्नथ दिशः स्वरेण सः ।
तौ पुनश्चरितचातकव्रतौ, वक्तुमारभत सारसद्गिरः ॥ ५८

आकृतिर्गुणसमृद्धिशंसिनी, नम्रता कुलविशुद्धिसूचिका ।
वाक्क्रमः कथितशास्त्रसङ्क्रमः, संयमश्च युवयोर्वयोऽधिकः ॥ ५९

श्लाघ्यतां कुलमुपैति पैतृकं, स्यान्मनोरथतरुः फलेग्रहिः ।
उन्नमन्ति यशसा सह श्रियः, स्वामिनां च पुरुषैर्भवादृशैः ॥ ६०

यौवनेऽपि मदनान्न विक्रिया, नो धनेऽपि विनयव्यतिक्रमः ।
दुर्जनेऽपि न मनागनार्जवं, केन वामिति नवाकृतिः कृता ? ॥ ६१

आवयोस्तु पितृ-पुत्रयोर्महानाहितः क्षितिभरः पुरुद्रुहा ।
तद् युवां सचिवपुङ्गवाविहं, योक्तुमत्र युगपत् समुत्सहे ॥ ६२

विद्युदुज्ज्वलचलाचलां श्रियं, सन्निवेश्य सचिवेषु साधुषु ।
सम्प्रहारभरसम्भृतश्रमाः, शेरते सुखममी क्षमाभुजः ॥ ६३

येन केन च सुधर्मकर्मणा, भूतलेऽत्र सुलभा विभूतयः ।
दुर्लभानि सुकृतानि तानि यैर्लभ्यते पुरुषरत्नमुत्तमम् ॥ ६४

मत्पितुर्भुजयुगेन सयुगादाहृतां जितयुगश्रिया श्रियम् ।
अक्षरक्षणविचक्षणौ युवां, नित्यमेधयतमिद्धया धिया ॥ ६५

---

१ उज्ज्वल' प्र० ॥ २ स्वश्शति वा० । 'स्वःपति' मु० ॥ ३ 'धर्व, यो' मु० ॥ ४ 'चलधि' वा० मु० ॥ ५ केनचन धर्म' प्र० ॥ ६ व्यवहार प्र० टि० ॥

इत्युदीर्य भुजवीर्यशालिना, मुदिता दशनचन्द्रिकाऽमुना ।
वस्तुपालवदनारविन्दत, स्यन्दते स्म मधु वाङ्मय तत ॥ ६६

देव ! सेवकजन स गण्यते, पुण्यवस्तु गुणवमु चाग्रणी ।
य प्रसन्नवदनाम्बुजमना, स्वामिना मधुरमेवमुच्यते ॥ ६७

सप्रसादवदनस्य भूपतेर्यत्र यत्र विलसति दृष्टय ।
तत्र तत्र शुचिता कुलीनता, दक्षता सुभगता च गच्छति ॥ ६८

जायते जलदवृन्दवृष्टिभि, शालिनी सफलता शनै शनै ।
तुष्यता क्षितिभृता नु दृष्टिभिस्तत्क्षणादपि नृणा फलोदय ॥ ६९

नास्ति तार्थमिह पार्थिवात् पर, यन्मुखाम्बुजविलोकनादपि ।
नश्यति द्रुतमपायपातक, सम्पदेति च समाहिता सताम् ॥ ७०

जीवनाय मनुजमनामिह, भ्राम्यतामथ कदापि स प्रभु ।
त्वादृशो भवति भाग्ययोगतो, वेत्ति य सदसता यदन्तरम् ॥ ७१

किंतु विज्ञपयिताऽस्मि किंचन, स्वामिना तदवधार्यता हृदा ।
न्यायनिष्ठुरतरा गिर सता, भ्रातुमत्यधिकनिस्तनैव यत् ॥ ७२

सा गता शुभमयी युगत्रयी, देव ! सम्प्रति युग कलि पुन ।
सेवकेषु न कृत कृतज्ञता, नापि भूपतिषु यत्र दृश्यते ॥ ७३

ते राजान स्वर्गताश्चक्रिरे यैर्वा रैवैरिवर्मापतीना प्रयाथा ।
तेऽपि ग्रामास्तत्र सामन्त्रिणो ये, श्लोकास्तेषा शोधयन्ति स्म शुद्धा ॥ ७४

दृष्टिनैष्ठा भूपताना तमोभिस्ते लोभान्धान् साम्प्रत कुर्वतेऽग्रे ।
येर्नीयन्ते वर्त्मना तेन यत्र, भ्रश्यन्त्याशु व्याकुलास्तेऽपि तेऽपि ॥ ७५

न सर्वथा कश्चन लोभवर्जितै, करोति सत्रामनुवासर मिथो ।
तथापि कार्य स तथा मनागिभि, परत्र बाधा न यथाऽत्र वाच्यता ॥ ७६

पुरस्कृत्य न्याय सज्जनमनादृत्य सहजानरीन् निर्जित्य श्रीपतिचरितमाधिय च यदि ।
समुद्धर्तुं धात्रीमभिल्पसि तत् सैर शिरसा, भृतो देवादेश स्फुरमवरथा स्वस्ति भवते ॥ ७७

सचिववचनमेतच्चेतसा सोत्सवेन निचितर्रैतिल्कोऽयं कर्यमार्य सम्यक् ।
अकृत कनकमुद्राकान्तिकिञ्जल्कसान्द्र करसरसिजयुग्म मन्त्रियुग्मस्य तस्य ॥ ७८

अवनिपतिरनेन भूरिधाम्ना, सचिवयुगेन निराद् विराजमान ।
पतगपतिरिवारिनागनाश जनयति पक्षयुगेन सयुग स ॥ ७९

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये मन्त्रप्रतिष्ठा नाम तृतीय सर्ग ॥



१ वाङ्मय वा० मु० ॥ २ ना फलश्री प्र० ॥ ३ 'रैर्वोरदमा' वा० मु० ॥ ४ 'जित वा० ॥ ५ धात्रीं समभिल्पसि तच्चैत्र वा० ॥ ६ 'प्य कुलश्री' मु० ॥ ७ मन्त्रिस्थापना नाम वा० । मन्त्रिस्थापनो नाम मु० ॥

चतुर्थः सर्गः ।

वस्तुपालस्य मन्त्रित्वावदाताः

श्रीवीरस्य परोद्धारधुरीणस्योपधारणम् । चक्रतुः सचिवावेतौ, पादौ सुरगिरेरिव ॥ १

ताभ्यां कल्याणरूपाभ्यां मन्त्रिभ्यामधिकाधिकम् । नृपाखण्डलराज्यश्रीः, कुण्डलाभ्यामिव व्यभात् ॥ २

न्यायं निवेशयन्नुर्व्यां, निर्व्याजः स्वजनः सताम् । स्तम्भतीर्थं जगाम श्रीवस्तुपालो विलोकितुम् ॥ ३

स्तम्भतीर्थे स्थितस्तीर्थप्रभाव इव मूर्तिमान् । केषां मुमोप नो दोषर्नाप्सितानि ददौ च यः ॥ ४

तमन्यमिव सश्रीकं, समुद्रमवलोकयन् । ईर्ष्ययेव पयोभङ्गैर्भ्रूभङ्गं विदधेऽम्बुधिः ॥ ५

कोऽप्यपूर्वः समुद्रोऽयमपापः पृथिवीतले । यस्मात् प्रसरति स्वादुरसपूरा सरस्वती ॥ ६

प्रविवेश पुरे तत्र, स पश्चान्मन्त्रिसत्तमः । तस्याऽऽगमे तु पौराणां, प्रमोदः प्रथमं हृदि ॥ [illegible]

हट्टे हट्टे पटोत्तम्भस्तोरणं च गृहे गृहे । पुरुषे पुरुषे प्रीतिः, सम्प्राप्ते तत्र मन्त्रिणि ॥ ८

धान्यैर्धन्यमिव क्षेत्रं, फलैरिव घनं वनम् । सरः पूर्णमिवाम्भोभिस्तेनाऽभूच्चारु तत् पुरम् ॥ ९

क्रूरैर्ग्रहैरिवाऽऽक्रम्य, मुक्तमन्यैर्नियोगिभिः । प्रीणात्येष पुरं मन्त्री, नक्षत्रमिव चन्द्रमाः ॥ १०

पुरं रोगैरिव ग्रस्तमपरैरधिकारिभिः । सद्वैद्य इव तन्त्रज्ञो, मन्त्री प्रतिकरोति यः ॥ ११

केनाऽप्यन्येन या चक्रे, सतां पीडाऽधिकारिणाम् । वार्यते वस्तुपालेन, सा सम्प्रत्यधिकारिणा ॥ १२

प्रत्यावृत्तिः कृतस्येव, कलेरिव गलग्रहः । बले: पुनरिवोत्थानं, स मेने सुमनःशतैः ॥ १३

निशासु नीचसम्भोगसम्भूतधनकामना । सत्यत्र मन्त्रिमाणिक्ये, गाणिक्येनापि तत्यजे ॥ १४

सर्वत्रोच्छ्वसितं सद्भिः, खलानां म्लानमाननैः । निराकृतदुराचारं, व्यापारं तत्र तन्वति ॥ १५

सांयात्रिकजनो येन, कुर्वाणो हरणं नृणाम् । निषिद्धस्तदभूदेष, धर्मोदाहरणं भुवि ॥ १६

स्पृष्टाऽस्पृष्टनिषेधाय, विधायावधिवेदिकाम् । पुरेऽस्मिन् वारितस्तेन, तक्रविक्रयविप्लवः ॥ १७

धात्रा स्थानेषु भग्नेषु, ताम्यतामाश्रयः सताम् । सद्वंशः सद्गुणश्चायं, पटावास इवाभवत् ॥ १८

स्वामिना सुप्रसादेन, पारितोषिकपि मुदितः । तथाऽप्युन्मुदितस्तस्य, वित्तविश्राणनक्षणे ॥ १९

स्निग्धैः सम्भाषणैरेव, यस्य द्रविणवर्षिणः । अर्थिनामुपशाम्यन्ति, दौःस्थ्यनिःश्वासवायवः ॥ २०

स्थानभ्रष्टस्य यः साधोराधारः सारवत्तया । जटाजूटः सुरस्रोतःप्रवाहस्येव शाम्भवः ॥ २१

लोकेऽस्मिन्नवभग्वाने, जाने वैराग्यमागताः । सरस्वत्यास्पदं तीर्थमिव यं शिश्रियुर्गुणाः ॥ २२

महतां वर्तमानानां वित्तेनोपकरोति यः । स्वर्गतानां जरज्जीर्णकीर्तिनोद्धरणेन तु ॥ २३

प्रासादास्तेन देवानामुद्धृताः कारिताश्च ये । नवत्वमेव विख्यातमसङ्ख्येष्वपि तेष्वभूत् ॥ २४

---

१ °रूपिभ्यां मु० ॥ २ व्यघात् मु० ॥ ३ °जः सुमनः वा० । °जः सुजनः प्र० ॥ ४ तद् वैद्य प्र० वा० ॥ ५ °रिण प्र० मु० ॥ ६ सत्प्रसा° मु० ॥ [illegible] °णां विद्यमाना° मु० ॥ ८ °रत्कीर्तिकी° वा० ॥ ९ ते प्र० वा० ॥ १० येष्व° प्र० ॥

यन्न्यून यत्र यत्तद्यं, यस्तत्र तदचीकरत् । उपक्तिरचमाना हि, रिक्तपूरणहेतवे ॥ २५

अरूपयदेनल्पानि, देवेभ्य कान्नानि य । हरनेत्राग्निनापत्य, यत्र न स्मरति स्मर ॥ २६

रम्भासम्भावितैर्यस्य, वनैर्नृपनिषेवितै । मनोज्ञसुमनोवर्गै, स्वर्गसौन्दर्यमाददे ॥ २७

सङ्गृहीतानि हारीत शुक चित्रशिखण्डिभि । धर्मशास्त्रसधर्माणि, यस्योद्यानानि रेजिरे ॥ २८

दर्शयन् सुमनोभाव, श्रीमत्तामतुल्यमयम् । काननाना स्वबन्धूना, स्वबन्धूनामिवाऽकरोत् ॥ २९

सरासि राजहंसालीशालीन्ययमचीक्लृपत् । तेनैव तुल्यता येषा, स्वादस्ताघनया तया ॥ ३०

आददाना पय पूर, य कासारेषु कासरा । विराजन्तेतरा पारावारेष्विव पयोधरा ॥ ३१

अकारयदय शार्वरयापीय कियारत । सुधाया अपि माधुर्यं, यज्जलैर्जग्ध्हस्तितम् ॥ ३२

ता प्रपा कारितास्तेन, यदीय पिबता पय । तृप्यन्त्यास्यानि पान्थाना, न रूप पश्यता दृश ॥ ३३

भवार्णवतरी ब्रह्मपुरी येनात्र निर्ममे । यस्या गायन्ति सम्पानि, नरा नार्यस्तु तद्गुण ॥ ३४

स्फुट वेश्मता शुभ्रे, कीर्तिकूटै घटैरिव । वृषाऽपि म्राहिता येन, त्रिग धेनाम्बरनगम् ॥ ३५

येन पौषधशालास्ता, कारितास्तारितात्मना । मध्ये श्वेताम्बरैर्यासा, विशुद्धि सुधया बहि ॥ ३६

यस्य पौषधशालासु, यतय सवसन्ति ते । सदा येषामदाराणामात्मसुसम्भवे कुत[7] ॥ ३७

ज्ञानाख्यं यस्य तच्चक्षुर्वाचादेवी ददे मुदा । निय येनैव धर्मस्य, गति सूक्ष्मामपीक्षते ॥ ३८

अय जगति मध्यस्थ, स्पष्ट सुष्ठिकृता कृत । धर्माख्यानमन्तदेतस्य, स्थिता सर्वेऽपि तावनि ॥ ३९

नानर्च भक्तिमान् नेमौ, नेमौ शङ्कर केशवौ । जैनोऽपि य मवेदाना, दानाम्भ कुरुते करे ॥ ४०

लभते लोकैत पापा, आपानन्ये नियोगिन । अधिकारमधिकारसमात्य पाहयसौ पुन ॥ ४१

सिंहनराजस्य गूर्जरदेशोपरि अभियोग:

अथ गूर्जरराजराजलक्ष्मी, रमणीया चरचक्षुषा निरीक्ष्य ।
धृतना द्रुतमादिदेश दूताभिन नसद्ग्रहणाय दक्षिणेन्द्रः ॥ ४२

धृतसिंहनसैन्यसिंहनादप्रसरा गूर्जरराजराजधानी ।
हरिणाव हरिन्मुखावलोक, चकितास्त तरणा मुहुश्चकार ॥ ४३

गृहमारमते न कोऽपि कर्तुं, कुरुत कोऽपि न सङ्ग्रह कन्यानाम् ।
स्थिरता धनानापि नैति चेत, परचक्रागमशङ्कया प्रजानाम् ॥ ४४

अवधीरितधान्यसञ्चयाना, घटुमान शकटेषु मानवानाम् ।
विपदामुदये हि दुर्निवारे, शरण चक्रमदय देहभाजाम् ॥ ४५

समुपैति यथा यथा समीर, रिपुगजर्वाजिना मदात् तदानीम् ।
परत परतस्तथा तथाऽसौ, जनता जातभयोच्छ्वसा प्रयाति ॥ ४६

तदेय ज्वेन यादवेन्दोर्नल्मागच्छदनुच्छनीरविर्गम् ।
भ्रुकुटीकुटिलं चकार कोपादन्हि श्रीत्वणप्रसाददेवः ॥ ४७

---

१ 'दनेकानि मु० ॥ २ यघश: या० ॥ ३ थ कथम् ? प्र० । अत्र कथादोपरि प्र० आदर्शे कुत इति टिप्पणी कृता वर्तते ॥ ४ लोभत वा० मु० ॥ ५ श्रीसिंहन' प्र० ॥ ६ 'राद् गू' प्र० ॥ ७ 'रगर्वम् मु० ॥

उपकण्ठमकुण्ठविक्रमस्य, स्फुरदुस्रप्रसरो हिरण्मयी स्रक् ।
शुशुभेऽस्य चुलुक्यभूपलक्ष्म्या, भयकन्या निहितेव बाहुवल्ली ॥ ४८

परिपन्थिवरूथिनीं प्रभूतां, स नृपस्तुच्छपरिच्छदोऽप्यगच्छत् ।
बलिनाऽप्यरिणा रणप्रवृत्तौ, सुभटानां हि पदानि सम्मुखानि ॥ ४९

बलवारिधिराजगाम शत्रोरुपतापीतटमुर्वरोषतापी ।
रभसादभिधावति स्म वीरः, स मही तीरमदीनबाहुशक्तिः ॥ ५०

प्रचुरं तदरातिराजचक्रं, तदजय्यं च बलं चुलुक्यभर्तुः ।
विमृशन् बहुशोऽपि सन्दिहानो, न जनो निश्चिनुते स्थितिं गतिं वा ॥ ५१

रिपुसैन्यनिवेशभूः प्रजानां, विदिताऽभूदनिवेदिताऽपि वृत्ते ।
गगनाङ्गणगाहनोन्नगैस्तज्ज्वलितग्रामसमूहधूमकूटैः ॥ ५२

भृगुकच्छमहीमहीनसस्यां, चरतस्तानचिरेण वृष्णिवर्गान् ।
न बहूनपि दुर्जयानजय्यः, समरेऽमन्यत वीरकेसरी सः ॥ ५३

प्रसरत्यथ मत्सरप्रबन्धे, द्रुतमेकेन रणोल्बणं कृपाणम् ।
अपरेण सुतं करेण वीरं, सहसा सस्पृशति सान्त्वयेव बधे ॥ ५४

चतुर्णां मरुभूपानां लाट-गोद्रहनृपयोश्च गूर्जरत्रोपर्यभियोगः

क्षितिपान्तरविग्रहप्रसक्तौ, पितृ-पुत्रावथ विग्रहीतुमेतौ ।
विदितावमरैश्चिराच्चतुर्भिर्मरुभूपैः सहसोपचक्रमाते ॥ ५५

उभयोरनयोश्चतुर्भिरेभिर्विगृहीतैर्विहिताऽथ साऽपि पृष्ठे ।
इयतैव बुधैर्विभावनीयं, सुभटत्वं पृथमूर्ध्नि यस्य यावत् ॥ ५६

अथ गोद्रह-लाटदेशनाथौ, मरुनाथैर्निभृतं निबद्धसन्धी ।
विधुरे परिहृत्य तत्र मित्रद्वितयं तत्कटकादुपेयतुस्तान् ॥ ५७

असतोऽप्यबलं सयोः सतोर्वा, सबलं स्वं मनुते स्म नैव वीरः ।
जलधिर्मिलितैरुपागतैः स्यान्नहि भियोद्धचबलैः क्षयी चयी वा ॥ ५८

पुरतो यदि सिंहनस्य सैन्यं, यदि पृष्ठे मरुभूभुजश्च तौ च ।
न बभूव तयोरचिन्त्यशक्त्योर्मुखरागस्य विपर्ययस्तथाऽपि ॥ ५९

पुरतः सरतो यदुप्रवीराननुगच्छन् समरे करीव मत्तः ।
व्यथितः प्रतिपार्थिवैः स पश्चात्, सपदि व्यावबृते नृप सकोपः ॥ ६०

जगति ज्वलिताखिलप्रदेशः, प्रचुरीभूतमलिम्लुचप्रचारः ।
स परस्परविग्रहो ग्रहाणामिव तेषामभवन्नरेश्वराणाम् ॥ ६१

---

१ °रा हिरण्म° मु० ॥ २ °क्ष्म्या, चलयन्त्या वा० ॥ ३ °विरू° प्र० वा० ॥ ४ सम्मुखा° प्र० वा० ॥ ५ °विमोघनी° मु० ॥ ६ यरक° मु० ॥ ७ °द्वि नद्योघजलैः प्र० । मिय उदध इति एतन्नामानौ द्वौ महानदौ ॥ ८ °व सत्तम । °ध° वा० ॥

अवलोक्य चुलुक्यपार्थिवौ तौ, विपरीतैर्बहुभिर्नृपैः परीतौ ।
खर-शीतकराविवाम्बुवाहैर्जनतेयं मनुते स्म दुर्दिनं तत् ॥ ६२

वलितेऽपि चुलुक्यपार्थिवेऽस्मिन्, न कृतं तैर्यदुभिः पुरः प्रयाणम् ।
हरिणैरनुगम्यते न मार्गो, हरिणा तत्क्षणमाश्रितोज्झितोऽपि ॥ ६३

हरितं परिहृत्य चन्दनाद्रेरथ गन्तुं हिमभूभृतं प्रवृत्त ।
अभवल्लवणप्रसादशूरः, प्रसरत्तीव्रतरप्रतापरौद्रः ॥ ६४

सहजा इति येषु बन्धुबुद्धिः, प्रथमाऽभूदथ तान् विकारकर्तॄन् ।
षडपि द्विपतो विमृश्य जेतुं, नृपवीरः स पुरश्चकार योगम् ॥ ६५

वस्तुपालस्य भेदनार्थं शङ्खराजेन दूतस्य प्रेषणम्

प्रयतेऽथ महीक्षितां विरोधे, क्षयसिन्धाविव सिन्धुराजसूनुः ।
प्रणिधिं प्रणिधाय मन्त्रिणेऽस्मै, तृणवद् विश्वमपि स्मयेन पश्यन् ॥ ६६

चुलुकोद्भवभूपतेरमात्यं, भयकालेऽपि निराकुलं तमेत्य ।
प्रणिधिः प्रणिपत्य च प्रवीणो, विनयैश्छन्नमदामुवाच वाचम् ॥ ६७

सुभटैरपरैर्विमुक्तमल्लं, समरोर्वीषु य एक एव धत्ते ।
अथवा भुवने निराश्रयाणां, शरणं किन्तु तथाविधैर्विनाऽस्तु ? ॥ ६८

दलितेऽपि दले स्थितं समित्या, यदुभिर्यो बहुभिर्धृतं कथञ्चित् ।
हृदयेषु गुणार्जितेषु तेषामपरेषामपि निश्रमं जगाम ॥ ६९

विधुतेऽपि सुतेऽत्र तत्सवित्री, न सपत्नाकुलमानसा तथाऽभूत् ।
समरे हि भयङ्करेऽपि व्यक्तं, समसत्त्वेन न येन रञ्जिताऽसौ ॥ ७०

अवलोकितमात्र एव शुभैर्यदुसिंहेन विमोच्य सिंहनेन ।
निदधे भुजपञ्जरे स्वयं यः, क्व लभन्ते गुणिनो हि न प्रतिष्ठाम् ? ॥ ७१

विधुरेऽपि न मुञ्चते निजं यः, कुलधर्मं च कुलान्वयप्रदीपः ।
स यदाह मदाननेन शङ्खः, शृणु तन्मन्त्रिशिरोमणे ! स्वरूपम् ॥ युग्मम् ॥ ७२

त्रिपथेऽपि कथं स वृत्तमार्गो, स्खलतु श्रीलवणप्रसादसूनुः ? ।
प्रददाति पदे पदे प्रबुद्ध, सचिवो यस्य भवान् करावलम्बम् ॥ ७३

निपुणोऽसि गुणेषु षट्सु जाने, पुनरेषा तव धीरता कुतस्त्या ? ।
व्यसने समुपस्थितेऽपि भर्तुर्यदनङ्कं कुरुषेऽधिकारमेवम् ॥ ७४

अयि ! वेत्ति भवानपीत्थं यत्, पितृभुक्तिर्मम पत्तनं यदेतत् ।
स्वधनग्रहणार्थमागतोऽहं, समयज्ञोऽसि तदर्पयेनामिदं मे ॥ ७५

१ पुनश्च° मु० ॥ २ महीक्षितां मु० ॥ ३ °यच्छिद्र° वा० ॥ ४ नेष्यद्रव्य° वा० ॥ ५ °रेऽपि स° वा० मु० ॥ ६ °पि धनश° वा० । °पि धन्तु मु० ॥ ७ सिंहनं° वा० ॥ ८ °तिष्ठा वा० ॥ ९ स सत्य° मु० ॥ १० °ङ्क पुरुषाधिकारमेक° मु० ॥ ११ अपि मु० ॥

यदि सम्प्रतिपत्तिरस्ति चित्ते, नगरस्यास्य नियोगवासना च ।
प्रणम द्रुतमेत्य तत् प्रसन्ने, मयि दूरे न तवाधिकारमुद्रा ॥ ७६

अपरोऽपि विधास्यतेऽधिकारी, नगरे कश्चन पैतृके मयाऽस्मिन् ।
भजसे यदि मां ततः स्थिरैव, त्वयि मुद्राऽस्तु गुणा' प्रियाः प्रभूणाम् ॥ ७७

अथ चेतसि किञ्चिदन्यथा ते, स्थितमास्ते तदपि प्रियङ्करं नः ।
यदसाध्यविरोधिसाधनाय, प्रतिभूरेष ममास्ति खड्गदण्डः ॥ ७८

अवलेपमलीकमाश्रितो यः, प्रभुमल्पार्थिनमन्यथा करोति ।
कुपितेन स तेन दण्डयमानः, सह जीवेन ददाति वित्तजातम् ॥ ७९

सिन्धुराजदूतं प्रति वस्तुपालस्य प्रतिवचः

अथ स व्यथितोऽपि तद्वचोभिर्न विकारं प्रकटीचकार मन्त्री ।
मलिनत्वमुपैति वातलुनैर्न रजोभिः सुरवाहिनीप्रवाहः ॥ ८०

जगदे जगदेकबन्धुनैवं, सचिवेनाऽपसरद्वचा' स चारः ।
भवताऽभिहितं यदात्मभर्तुश्चरितं तत्र चमत्करोति कस्य ? ॥ ८१

तरणेरिव सिन्धुराजमल्लोर्महसा दुष्प्रसहेन शुष्कदेहम् ।
दहति स्म सुखेन लक्ष्मदेवद्रुममुच्चैरपि यादवेन्द्रदावः ॥ ८२

समरैकरतेरमुष्य सत्वस्तुतिकोलाहलकाहलानिनादैः ।
श्रुतिमार्गमुपैति मर्त्यलोके, सुभटानामभिधाऽपि नापरेषाम् ॥ ८३

विपरीतमतित्वमस्य मन्ये, यदसावर्थयते पुरं तदैवत् ।
हयसैन्यसहायतोऽपि सिंहान्नृपसिंहेन विगृह्य यद् गृहीतम् ॥ ८४

बहुभिः सह योद्धुमक्षमं मे, मनुते स्वामिनमेष तन्मृषैव ।
ननु निश्चलनिश्चयस्य पुंसस्त्रिदशा यान्ति सहायतां क्रियासु ॥ ८५

चक्रपाटकचेष्टितं न दृष्टं, न च सिद्धेश्वरसन्निधानमुद्रम् ।
किमनेन मनस्विनो यदस्य, क्षितिमाकाङ्क्षति लीलयैव लब्धुम् ? ॥ ८६

तनयः पितृवित्तमर्हतीति, व्यवहारः पुरुषान्तरेषु मुक्तः ।
परसम्पदपेक्षिणां नृपाणां, स कृपाणे न धृतः पुनः प्रमाणम् ॥ ८७

तदुपेहि पतिं स्वमेवमस्मद्वचसा ब्रूहि च देव ! वेत्सि सर्वम् ।
अवलेपमिमं विमुञ्च नो चेदयमस्मि स्थैमतो विचार्य कुर्याः ॥ ८८

---

१ 'रोधसा' वा० मु० ॥ २ 'भूरस्ति ममैप स्थ' मु० ॥ ३ 'मभ्यर्थि' मु० ॥ ४ 'नापि सर' मु० ॥५ 'देहः वा० ॥ ६ 'घायिनां परे' मु० ॥ ७ यदैत' वा० ॥ ८ सिंहनादान्नृ' वा० ॥ ९ 'नु निश्चयनिश्चलस्य वा० मु० ॥ १० 'स्विना यदीशक्षिति' प्र० ॥ ११ 'यममुं वि' मु० ॥ १२ त्यमितो मु० ॥

श्रुत्वा वचः सचिवचक्रकृतोत्तरं, भूयोऽप्यभाषत रुषा परुषाक्षरं सः ।
आः ! किं अद्यापि मदमन्दमतिस्त्वमेवं, देवस्य तस्य नियतं नहि वेदिताऽसि ॥ ८९

कुर्वाणस्त्वयि शस्त्रधारणमसावस्मत्पतिर्लज्जते,
येनैकेन रणाङ्गणेऽवगणितः सेनाघनः सिङ्घनः ।
तत् ते चेतसि चेद् विचारकणिका काऽप्यस्ति तन्मुच्यतां,
मानोऽयं नयवेदिनाऽथ भवता वैर्मेदमामुच्यताम्[1] ॥ ९०

अथ सचिवमवश्यमाह्वयाय, प्रवणमतिं मतिमानयं विदित्वा ।
पवन इव घनोन्मुखं क्षणार्धे, विभुमभिवेगवशात्समभ्यगच्छत् ॥ ९१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये दूतसमागमनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



१ धर्मेदमा° वा० मु० ॥

पञ्चमः सर्गः ।

सिन्धुराजेन साकं गूर्जरेश्वरस्य संग्रामः

कथितारिविचारेण, चारेण प्रेरितस्ततः । सिन्धुराजात्मजः सिन्धुर्वायुनेवोदजृम्भत ॥ १

कुपितः करवालेन, सिन्धुराजाङ्गभूर्बभौ । कल्पान्तविप्लुतः शम्भुः, कृतान्तेनेव सङ्गतः ॥ २

भृकुटीघटना भाले, तस्य भाति स्म भीषणा । त्र्यक्षचक्षुर्यया जिग्ये, युगान्तोद्दान्तपावकम् ॥ ३

रुषा स्मितमुखः शङ्खः, शङ्खपाणिसमच्छविः । नामवद् भीतये कस्य सितविद्युदिवाम्बुदः ? ॥ ४

स प्रतस्थे हयोदस्तैः परागपटलैर्घनैः । प्रावृषं राजहंसानामकाले कल्पयन्निव ॥ ५

केकिपत्रमयच्छत्रच्छन्ना तस्य पताकिनी । जङ्गमोद्यानलक्ष्मीव, दोःस्थितायाः जयश्रियः ॥ ६

झटित्यागत्य साटोपो, वटकूपसरस्तटे । व्याचष्ट पटहोद्घोषैर्द्विषामेष स्वमागतम् ॥ ७

निस्वाननिस्वनानस्य, स्वकर्णाभ्यर्णमागतान् । उदस्तभृकुटीभङ्ग्या, मन्त्री प्रत्युद्गादिव ॥ ८

मन्त्री यद्यपि गाम्भीर्याद्, भावं नाऽऽविश्चकार तम् । तथाप्येष कृतोत्थानैर्व्यक्तीभूतः शिरोरुहैः ॥ ९

सन्नद्धसैनिकः शङ्खो, भिन्नशङ्क इव द्विपः । सङ्गरावेशदुर्वारः, सञ्चचार शनैः शनैः ॥ १०

[आविष्ट इव राधेयवधोग्रेण किरीटिना । स तदा सचित्रश्चापमामसर्श मुहुर्मुहुः ॥]

स चौलुक्यनृपामात्यः, सञ्चरत्यरिसञ्चये । सैन्यमारचयामास, त्रासमुक्तेन चेतसा ॥ ११

चन्दना-ऽगुरु-कर्पूर-कस्तूरीकुसुमस्रजः । स्वःस्त्रीसम्भोगमिच्छद्भिरिव धीरैर्विदध्रिरे ॥ १२

सन्नाहः सङ्गरारम्भसम्भवासत्त्वसम्पदः । उच्छ्वसत्स्थाममात्यस्य, न मात्यस्य तनौ तदा ॥ १३

दक्षिणेनांह्रिणा क्षोणिक्षोदनाज्जयशंसिनम् । आरुरोह जवादश्वमश्वराजाङ्गसम्भवः ॥ १४

श्रीवीरनृपमुद्रां यः, सदा धारयते करे । वीरशूद्रकमुद्राऽपि, धृता तेन तदा हृदि ॥ १५

भटा भुवनपालाद्या, यद्यप्यग्रे तदाऽभवन् । तथापि स पुरस्तेषां पौरैः शूरतया मतः ॥ १६

अग्रे शङ्खचमूचक्रं, मध्ये प्रहरणाङ्गणम् । पारेरत्नाकरं वीरगिरोरत्नमसौ स्थितः ॥ १७

समासन्नेऽपि सङ्ग्रामे, शौर्योद्गिदं न भाषितैः । स चक्रे सचिवोत्तंसः, क्रियासाराहि तादृशाः ॥ १८

स्थितं सङ्खचमुखे शङ्खरत्नं वीक्ष्य विकसन्मुखम् । पाणौ रणरसोत्तालः, करवालमलालयत् ॥ १९

स्थितेऽत्र सम्मुखे शङ्खः, प्रवेष्टुं नाशकत् पुरीम् । रोहिणीं रोषरौद्रोऽपि, यथा दशरथे शनिः ॥ २०

चलन्मन्त्रिबलोत्क्षिप्तः, क्षोणिरेणुगणोऽल्पणुः । उदैष्यत प्रतापाग्नेर्धूमराशिरिवोत्थितः ॥ २१

धूलिध्वान्तोदये तस्मिन्, मुखोद्द्योतेन मन्त्रिणः । प्रतापः प्रकटीचक्रे, श्रीवीरधवलप्रभोः ॥ २२

प्रभूतमपि तत् सैन्यं, क्षोभायाभूत्न मन्त्रिणः । तेऽन्येऽपि बहवो येषां, रणारम्भे स्थितं मनः ॥ २३

स्थितेन तेन धीरेण, कर्तुमद्वैतमात्मनः । गोष्ठीसमः समित्स्थां स, स्याद्वादी सचिवो यदि ॥ २४

---

१ केतुप° मु० ॥ २ उदक्षभू° मु० ॥ ३ पद्यमिदमधिक वर्तते प्र० आदर्शे ॥ ४ °त्या अमा° मु० ॥ ५ क्षोणीक्षो° प्र० ॥ ६ °पि, व्ययादशरथो मु० ॥ ७ क्षोणीरेणुगणो ननु मु० ॥ ८ °त्थां यः, स्या° मु० ॥

वादित्रयोरत्र सम्भेदे, स कोऽपि तुमुलोऽभवत् । यस्याग्रे मन्दतामेति, सामुद्रोऽपि महाध्वनिः ॥ २५

अवाञ्चितानि चापानि, भ्रुवोर्युग्ममुदञ्चितम् । सुभटैः कोपसाटोपैः, सेनयोरुभयोरपि ॥ २६

काण्डानां सह कोदण्डगुणैः सन्धिरजायत । तथा वीरप्रकाण्डानां, विग्रहस्तु परस्परम् ॥ २७

वर्णं स्वाङ्गिरन्येषामन्येषां जीवितव्ययम् । कुर्वाणैर्निदधे बाणैः, स्पष्टं दुर्जनचेष्टितम् ॥ २८

तत्राऽऽहवमहातार्थे शिलीमुखैर्गुणनिर्गतैः । भित्त्वा विमर्दनं चक्रे, परस्मिन् पुरुषे लयः ॥ २९

विहाय शरधिं वेगाच्चापमापुः शिलीमुखाः । चिह्नमेतत् सपक्षाणां, विधुरे यत् पुरः स्थितिः ॥ ३०

वक्षो विक्षिप्य वैपक्षं पत्रिणः पततो गताः । न चिरं निर्गुणैर्लभ्या, धीमतां हैयवस्थितिः ॥ ३१

खड्गिनः खड्गिभिः कुन्तपाणयः कुन्तपाणिभिः । योधा योधैर्हयारूढा, हयारूढैश्च सङ्गताः ॥ ३२

मन्त्रीशकरसंसर्गादिव दानार्थमुद्यतः । असिरस्पृष्टान् कोशं, बद्धमुष्टिरपि क्षणात् ॥ ३३

वाराणां पाणिपादाब्जैः, पूजितेवाऽऽहवावनिः । दत्तार्घेव च दर्भाग्रकेशमिश्रैः शिरःफलैः ॥ ३४

अहिंसाव्रतभङ्गेन, का स्यात् तस्यात्र वाच्यता ? । पुरुषव्रतनिर्वाहो, येन तादृक् कृतस्तदा ॥ ३५

अहिंसाभङ्गसम्भूतां, मन्त्री मार्ष्टुं मनःखिदम् । चक्रे दिव्यमिव स्नानं, स शूरः शरवृष्टिभिः ॥ ३६

प्रभुप्रोत्साहनं पृष्ठे, मार्गणोत्तेजनं पुरः । विक्रान्तानां विशां, जातं निक्रमद्वये ॥ ३७

उद्दिश्यापि द्विषा मुक्तैर्न मन्त्री निभिदे शरैः । अदृष्टः कोऽपि शिष्टानां, बद्धरक्षो हि रक्षणे ॥ ३८

सुभटासृक्सरित्पूरः पुरस्तात् दुस्तरो यदि । तथापि न विश्रामं, मन्त्री शत्रूनभि व्रजन् ॥ ३९

विभाव्य तमसम्भाव्यमनष्टं भरणे रिपोः । स्वचमूचरसंहारमारभ्य च परैः पुरः ॥ ४०

वीरः सङ्ग्रामसिंहोऽथ सङ्ख्ये शङ्खापराक्रमः । आविर्भाविनरानुचैर्निजसरम्भसौरभम् ॥ ४१

युग्मम् ॥

अपि भ्रूपल्लवोल्लासं, परैर्यस्य सुदुःसहः । तस्य सङ्ग्रामसिंहस्य, खड्गोल्लासं सहेत कः ? ॥ ४२

तमेकमिवाऽऽयान्तमनपेक्षितकौशलम् । भटो भुवनपालाख्यः, शङ्खे प्रत्यभिजग्मिवान् ॥ ४३

सखा शङ्खस्य सामन्तः, सेना सीमन्तयन्नरम् । कस्माद् गुरुकुम्भोन्नतममभ्ययुङ्क्त नमत्वरम् ॥ ४४

शास्त्रैः शस्त्रेषु मन्त्रेषु तयोरप्रतिमल्लयोः । मल्लयोरिव सञ्जज्ञे कचाकेशि भुजाभुजि ॥ ४५

निपतन्ति प्रेक्ष्यमाणाभिरप्सरोभिर्मुखे तयोः । बहु मन स्वकायानां चक्षुषामनिमेषता ॥ ४६

सामन्तमन्तरस्यात, स नीत्वा सत्वरं पुनः । समं सङ्ग्रामसिंहेन, सङ्ग्रामं कर्तुमभ्यगात् ॥ ४७

शङ्खेन खड्गघातैस्तैः, खण्डखण्डं कृतं वपुः । सङ्ख्ये भुवनपालस्य, पौरुषं न तु खण्डितम् ॥ ४८

स वीरो मन्त्रिवीरस्य, शङ्खासियन्त्रनर्तकः । तस्य प्रभुप्रसादस्य, प्राणैरनृणोऽभवत् ॥ ४९

श्रुत्वा भुवनपालस्य, निधनं मृधमूर्धनि । स क्रोधेनैव वेगेन, रणाय प्रवणोऽभिक्रमत् ॥ ५०

प्रिय विक्रान्तता केतुमसुभिः सुलभं यशः । शृतासि प्राविशद् वीरो वीरमः समरप्रगम् ॥ ५१

शङ्खपत्तिर्जयन्तश्च, मन्त्रिपत्तिश्च वीरमः । उभौ सम्मुखमा यातौ, सविवादौ जयश्रिये ॥ ५२

वैरिणामपि वीरत्व, रणान्तर्न्यायिताम्मना । वाचि वाचिगदेवेन, स्वगात् स्तुतिनिगद्दिता ॥ ५३

---

१ 'तुभल्ले' प्र० वा० ॥ २ हृदयस्थिति प्र० ॥ ३ 'रसद्वार' वा० ॥ ४ सङ्गमिषमायां' सु० ॥
५ 'श्रपातैः' सु० ॥ ६ 'रुच्छ्राय' प्र० वा० ॥ ७ शम्भू समा या' सु० ॥

स्थित्वा विषयमानेन, भग्नेऽपि स्वचमूजने । पदे पदे कृत. स्तोम, सोमसिंहेन सङ्गरे ॥ ५४
स्वामिशत्रुमहत्वाऽपि, मृतोऽस्मीति ह्रिया किल । विजयेन तथा यातं, नेहाऽऽयातं यथा पुनः ॥ ५५
क्ष्मातलक्षेपयुद्धयेव, शङ्खेन दृढमाहत । भटो भुवनसिंहस्तु, सपदि त्रिदिवं गतः ॥ ५६
प्राणेभ्योऽपि प्रियं शस्त्रे, क्षत्राणामिति निश्चयः । तथाऽभ्युदयसिंहेन, न्यक्कारस्ते नोज्झितं तु तत् ॥ ५७
स्वखड्गखण्डितैर्वीरशिरोभिर्विषमीकृते । पेते विक्रमसिंहेन, क्रोधान्धेन मृधाध्वनि ॥ ५८
विम्भ्येमः कुलसिंहेन..............दर्शनात् । वक्रा च विस्फुरत्कुन्ते, युद्धे वै कुण्ठबुद्धिना ॥ ५९
भित्त्वा भल्लीभिरङ्गेभ्यो, निर्गतान्त्रपङ्क्तिभिः । उदल्लॅन् शुशुभे तेंत्र, सोऽयं द्रुम इवोद्दलः ॥ ६०
पश्यतः सचिवं धीरं, तथैव स्थितमग्रतः । शङ्खस्यापि चमत्कारः, प्रससार तदा हृदि ॥ ६१
विकारवर्जितं वीक्ष्य, साक्षात् तं पुरुषं परम् । प्रबुद्धमिव शङ्खेन, विरमत्कोपसम्पदा ॥ ६२

चौलुक्यचन्द्रसचिवेन्द्रमवार्यशक्तिं, मत्वा स्थित स्थगयताऽथ रजोभिराशाः ।
आकम्पितप्रचुरपत्रनृपांह्रिपेण, शङ्खेन यातमपसृत्य महाबलेन ॥ ६३
मन्त्रीश्वरोऽयमनुभूतभटोपमर्द , सौवर्णपिण्ड इव सोढहुताशतापः ।
आनन्दकन्दलितबाष्पविलोचनेन, लोकेन पूजितमतीव बभाज तेज. ॥ ६४
सङ्ग्रामसिंहं स महानियोगी, योगी यथा योगबलेन कालम् ।
संहर्तुमायान्तमतीत्य चक्रे, कुशाग्रबुद्धिः कुशले पुरस्य ॥ ६५
संवीक्ष्य वीररसरोपितरोमराजिराजिक्षिति क्षतभटामिर्पगर्द्धिगृध्रधाम् ।
मन्त्री न्यवर्तत तत. प्रेमबाष्पपूतैः, मूर्तैः पुरः प्रतिपदोदितदोर्विमूर्तिः ॥ ६६
सम्भाव्य बन्धुनताजनितोपगेधीर, दूरे विरुद्धहृदयोऽपि समं नृपस्तैः ।
पुत्रेण तेन सह दुःसहपौरुषेण, सोऽभाऽऽसमाद भगरी क्षणमसादः ॥ ६७

प्रतिनृपतिभिर्भग्नोत्साहैर्निमग्नमिव क्वचित्,
स च नरपतिर्वीरस्तीरं जगाम मृधाम्बुधेः ।
दिशि दिशि यशःस्तोमान् सोमान्वयी समचारय-
द्वैतुरकुरलीचार्वेत्स्योऽयं प्रियङ्गुगणैर्गुणैः ॥ ६८

॥ इति गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये युद्धवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



१ विमम्यः मु० ॥ २ प्र० आदर्शे पद्यस्यास्य स्थान रिक्त वर्तते ॥ ३ °रङ्गेभ्यो का० मु० ॥ ४ °न् सो शुशुभे का० ॥ ५ तत्रैकोऽयं का० मु० ॥ ६ °यं द्वीरं का० मु० ॥ ७ यातम° का० मु० ॥ ८ °पर्मर्द्धिग्रभा का० । °पमार्धिगृध्राम् मु० ॥ ९ प्रमदोपपूतैः का० । प्रमदोपद्रुतैः मु० ॥ १० °पाद्, धीरैर्विद° मु० ॥ ११ °न स्यार्था स° का० मु० ॥ १२ चतुरतुरली° मु० ॥ १३ °क्यो-ऽसौ प्रि° प्र० ॥

षष्ठः सर्गः ।

श्रीवस्तुपालेन बलान्निरस्ता, ता दुस्तरामापदमाकलय्य ।
महोत्सवानामकृत प्रवृत्तिं, वीनोपसर्गं पुरवासिवर्गः ॥ १

गृहे गृहे धातुरसानुलेपा, समन्ततः स्वस्तिकपङ्क्तिमन्तः ।
विरेजिरे तूर्यरवानुकूला, कुलाङ्गनामङ्गलगीतयश्च ॥ २

बभूव देवेषु विशेषपूजा, राजन्यमार्गेषु विशेषशोभा ।
विशेषहर्षः पुरपूरुषेषु, विशेषवेषश्च वधूजनेषु ॥ ३

येषां निमेषार्द्धमपि क्षपायामायान्न निद्रा रिपुविद्विषेण ।
सुस्थाकृताना सचिवोत्तमेन, तेषा च हर्षान्तरितैयमासीत् ॥ ४

पुरप्रजानां प्रमदामृतेन, तनातिमात्र शिशिराकृतानाम् ।
निःशेषिताशेषसरःसमृद्धिर्ग्रीष्मो न भीष्मोऽप्यभवद् भयाय ॥ ५

शिरीषपुष्पप्रचयच्छलेन, शुचिर्दधानो हृदय प्रदीपं ।
आषाढवान् बाढमपास्तकाम, कर्मादिकं पस्तमुपाजगाम ॥ ६

आमायमालोक्य चुलुक्यभर्तुः, कर्तुं स्थित शत्रुमतो निरस्तान् ।
मन्ये मनोभूरपि मन्दमन्दं, चापक्रियाचापलमाचचार ॥ ७

दिङ्मण्डली पाटलिपुष्पगन्धसम्बन्धसोमेषमरुन्मिषेण ।
शान्तोपतापा सचिवेन तेन, सन्तोषतः श्वासमिव व्यमुञ्चत् ॥ ८

अस्मान् मुखनोत्तरतु भ्रमन्ता, कीर्तिस्तदायेति कृशास्तटिन्य ।
बभूवुरासामसदेतदन्त, सा हि क्षमा सागरलङ्घनेऽपि ॥ ९

प्रतापिनः पल्लवितप्रताप, शुचि शुचित्वाधिगतप्रसिद्धे ।
कविप्रियोऽसौ प्रथयाञ्चकार, निन्दां निदाघस्य जडप्रियस्य ॥ १०

पीयूषबिन्दुप्रसवं स्रवन्ती गुणावलिर्यस्य गलन्तिकेव ।
स्थितोपरिष्टादपि विष्टपस्य प्रीतिं प्रतप्तस्य तदा ददाति ॥ ११

ऋतुर्दिगन्ताक्रमणोद्यतस्य नयत्रय बुद्धिमिनस्य तेज ।
तेनाभविष्यत् सचिवेन तुल्य, प्रजोपताप यदि नाकरिष्यत् ॥ १२

सशोषिनादायनदे निदाघे, मन्त्रान्तदृष्टि क्रमशोऽभिरामा ।
तृष्णापहारं न चकार कस्य, प्रपेव सन्मार्गमुपागतस्य ? ॥ १३

पुण्ड्रेषु क्षीणरसा सरस्य शुष्का निगुञ्जाश्च गवा समूहा ।
चूतद्रुमा वा सचिवोत्तमो वा, तदाऽर्थिसार्थ सफलीचकार ॥ १४

---

१ स्वरूपी प्र० ॥ २ प्रदीप मु० ॥ ३ जल्पि वा० ॥ ४ घस्तु मु० ॥

स्वरक्षितस्याथ पुरस्य तस्य, वैशेषिकीं वीक्षितुमेष शोभाम् ।
इष्टां नमस्कर्तुमनाश्च देवीं, श्रीवस्तुपालः सचिवश्चचाल ॥ १५

प्रसर्पतः प्रोषितगर्वभावात्, परिच्छदो यद्यपि तस्य तुच्छः ।
स्त्रीभिः कृताः प्रेक्षणकाङ्क्षिणीभिस्ते सङ्कटा राजपथास्तथापि ॥ १६

तं राजवीथ्यामथ सञ्चरन्तमालोकयन्त्यः पुरलोककान्ताः ।
दातेति पातेति जैयीत्यर्यीति, क्षमीति वाग्मीति भृशं शशंसुः ॥ १७

मनोरमाकारममात्यमेतमिवोपगन्तुं हृदयानि तासाम् ।
चक्षुः पुरस्तादुपढौकनाय, फलद्वयं चारुकुचद्वयेन ॥ १८

तमन्तिके यान्तमवेत्य बन्दिशब्दैरथ क्ष्ुमगारगर्भात् ।
द्रुतं प्रयान्ती रसनानिनादैराकारयत् काऽपि सखीरिवान्याः ॥ १९

जवेन यान्त्यास्तदवेक्षणाय, कस्याश्चिदम्भोजनिभेक्षणायाः ।
काञ्ची सखीभिर्विधृता गलन्ती, नितम्बतो न स्थिरता तु चित्तात् ॥ २०

तदा तदालोकनलोलदृष्टिः, संवृण्वती स्वाङ्कमंशुकेन ।
हृत्कोटरान्तर्निहितस्फुलिङ्गमनङ्गमन्या प्रकटीचकार ॥ २१

तेनाङ्गना प्रत्यवलोकिताऽन्या, त्रपातिभारेण भृशं नमन्ती ।
रराज कन्दर्पकिरातमुक्तसमापतन्मार्गणवञ्चितीव ॥ २२

परा स्मरावेशनिवेशिताश्रुः, प्रयुक्तनेत्राञ्जितयाञ्जनाऽपि ।
सुधानिधानं सचिवप्रधानं, नालोकितुं सम्यगलम्बभूव ॥ २३

न पुष्पचापादपरोऽस्ति चापी, यस्मादमात्यप्रणयोन्मुखीनाम् ।
न कञ्चुके किञ्चन भेदभिहं, भिन्नं मनस्तेन घनस्तनीनाम् ॥ २४

लब्धायती तं प्रति काऽपि बाला, जालान्तराळेन दृशं मुमोच ।
इषुर्यथाऽजीयत वप्रमार्गागतः कामचमूचरस्य ॥ २५

तदर्शिनीनां हृदि सुन्दरीणां, मनोभवक्ष्माधवकेलिसौधे ।
प्रभूतदुर्वारपरिच्छदोऽपि, छमे प्रवेशं सचिवेन्दुरेकः ॥ २६

मन्त्रीशमालोक्य सुलोचनानां, स्वभावलोलान्यपि लोचनानि ।
नान्यत्र कुत्रापि गतिं वितेनुर्गुणैस्तदीयैरिव यन्त्रितानि ॥ २७

श्रीतगृहमयुसुकया कयाचिद्, दैहैकदेशे निहितं ततोऽपि ।
. घर्माम्भसा पृष्टममात्यदृष्टाविष्टासिरन्याऽपि जडादपैति ॥ २८

समीपभाजस्त्वपि तत्र मन्त्रिणो दधाने सुमनःसमृद्धिम् ।
रोमोद्गमोद्यन्मदनाग्निशीर्णाकन्दमालेव परा व्यराजत् ॥ २९

१ 'श्री मयी' मु० ॥ २ 'याती बा० ॥ ३ 'जबन्दिनी' बा० ॥ ४ 'स्तरेण[स्वा]ट' बा० ॥
५ 'गाहतः बा० ॥ ६ 'प बन्दि' मु० ॥ ७ 'मोघमो' बा० मु० ॥

उद्दामकामक्षितिपाज्ञयेव, क्रियान्तराण्यर्द्धकृतानि मुक्त्वा ।
क्षीणा गण श्रीकरणप्रधानममुं समालोकत सावधान ॥ ३०

खिन्नाऽध्वनि श्रोणिभरेण तावदेथ व्रजन्त सचिव विलोक्य ।
काऽपि प्रयातु पदमप्यशक्ता, सहामुना स्वं प्रजिघाय चेत ॥ ३१

गेहे शुभे सन्यममात्यमम्मुर्दृष्ट स दृष्ट्या परिपूर्णयैव ।
पुराङ्गनानामनुरागिणीना नत्रत्रिभागेन निभाल्तितो यत् ॥ ३२

तत्कालमुन्मीलितमानकेतु वगतुराणा पुरसुन्दरीणाम् ॥
अदत्त चित्त न स दान्तचित्तस्तद्धर्मपत्न्या प्रथम हि दत्तम् ॥ ३३

रेम न स्म्यऽपि वधूजनऽत्र नत्वय मन्त्रिमतल्लिकाया ।
न तादृशास्तादृशसंयमेषु, प्रलोभनाय प्रभवन्ति भावा ॥ ३४

अथाऽऽशिष संप नतन मूर्ध्ना गृह्णन् वितीर्णा कुलबालिकाभि ।
विभूषितस्तम्भपुरोपशल्यामेकल्लवारा प्रददर्श देवीम् ॥ ३५

ता सप्तलोकप्रणता प्रणतु, जगाम दूरं स दुरापकीर्ति ।
न वेत्ति निद्रानपि सयसन्ती, वाणीस्वरूपेण निज मुखाब्जे ॥ ३६

दुग्धेन दध्ना मधुना घृतेन, स्वच्छन तोयेन च शुद्धमूर्तिम् ॥
आनर्च देवी सचिव प्रसून-कर्पूर-कृष्णागुरु-चन्दनाद्यै ॥ ३७

चकार देवीवदनारविन्दे, स दन्तपङ्क्ति घनसारखण्डै ।
हर्षं वहन्ती हृदि सप्रकर्षं, साक्षात् सहासेव बभौ यया सा ॥ ३८

नैवेद्यवृन्दैरनवद्यवृत्ते, निष्टानुकूलैश्च दुकूलकूटै ।
धूपैरथ भूपसमानुरूप, प्रसादयामास दयाश्रयस्ताम् ॥ ३९

नुत्या च नत्या च विशेषवत्या, देवी समानीय मुद स मानी ।
श्रीवीरभूपालकृपामदम्ब, स्थिति ययाच हृदि च स्वकीये ॥ ४०

अथोष्मणि ग्रीष्मसमुत्थितेऽन्तर्देह स्मारस्यदलि दह्यमाजाम् ।
शङ्के समग्रोऽपि रस मगाद्र, सदाम्बुदर्भन वहिर्वभूव ॥ ४१

चण्डद्युतौ मण्डयति द्युमध्य मध्यन्दिनेऽदीपितनैमिदले ।
समं स मन्त्री गुणिना गणेन काडावनं प्राप मनोविवर्ति ॥ ४२

मन्त्री तदासाद्य वन ननन्द, प्रीष्म मनी शोषयितु स्थित यत् ।
भ्रमत्पक्षसहिताधस्मात्कारवै प्रनिगर्जनीव ॥ ४३

दीर्घैर्निदाघस्य दिनैर्मनोगुल्लघसिद्धिर्मजनि स्म मस्य ।
घनस्य नस्यानिघनद्रुमस्य, च्छायातमी तापरिना प्रसूते ॥ ४४

१ °दग घ° मु॰ ॥ २ °मेयेव मु॰ ॥ ३ °न विल्पविता वा॰ मु॰ ॥ ४ °पन्त्या प्र° वा॰ ॥
५ °लकामिमीभि प्र॰ ॥ ६ हास्येव वा॰ मु॰ ॥ ७ °इकाति वा॰ ॥

अमह्यमत्यर्थमपास्तदौस्थ्यं, पिकाङ्गनाकूजितकैतवेन ।
उल्लासिमल्लीमुकुलाग्रदैत्यः, सत्यं स्तुवन्ति स्म वनाधिदेव्यः ॥ ४५
हिमासहोऽथ समयस्तमिस्रहिंस्रः सहस्रांशुरिमौ समेतौ ।
मत्वेव ते भीति-रती प्रविष्टे, छायाविशिष्टं वनदुर्गमेतत् ॥ ४६
लीलावनेऽस्मिन् नवमेघलीलामरन्दबिन्दुप्रकरं किरन्तः ।
विनाऽपि वर्षासमयेन हर्षं, शिखण्डिनां ताण्डवयन्ति वृक्षाः ॥ ४७
स एव घर्मांशुकरानुषङ्गादङ्गानि पुंसां पवनो दुनोति ।
धिनोति सद्वृक्षवनोपसेवी, सङ्ग. कुलीनैरत एव युक्तः ॥ ४८
प्रकम्पितायां क्षितिकम्पवृक्षो, द्राक्षालतामण्डपवेदिकायाम् ।
कृतोपवेशः स चकार गोष्ठीमनिष्ठुरोक्तिप्रसरैः कवीन्द्रैः ॥ ४९
केचित् कुलं भीतिनिरामुलस्य, कृतावदानस्य परे च दानम् ।
मान्यस्त्वमन्ये विनिवृत्तमन्योर्व्यावर्त्तयुरास्थेयगुणस्य तस्य ॥ ५०
कवीन्द्रशैलेन्द्रविनिर्गतानां, सरस्वतीनां प्रसृतान् प्रवाहान् ।
आरुह्य भूमण्डलमासमुद्रमियर्त्ति मन्त्रीश्वरकीर्तिहंसी ॥ ५१
कवीश्वराणां प्रणतिं स्म वाणी, कर्णद्वयं कर्णसमस्य तस्य ।
सोऽपि प्रमोदं हृदयेषु तेषामुदारपाणी रचयाञ्चकार ॥ ५२
ददौ स्म तेभ्यः सचिवः कविभ्यः, प्रभूतमन्यद्बुतकीर्तिरर्थम् ।
आदत्त चिद्रूपतया निगूढमप्यर्थलेशं तु तदुक्तसूक्तात् ॥ ५३
मनीषिणां मानसमन्दिरेषु, श्रीमानमात्यो निवसन्नजस्रम् ।
तेभ्यः स कल्पं वितरामगण्यहिरण्यविश्राणनकैतवेन ॥ ५४
तस्मिन् वने सत्कविवक्त्रयन्त्रविनिर्गतेन श्रवणामृतेन ।
संसिच्यमानः सचिवः प्रधानमह्नाय मध्याह्नमयं निनाय ॥ ५५
आरामयामशिशिरधाम्नि पश्चिमायामायाते सुकृतवतामपश्चिमोऽसौ ।
तान् कृत्वा धनकनकैः कवीन् कृतार्थानावासं स्वमभि चचाल वस्तुपालः ॥ ५६

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये पुरप्रमोदवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



१ 'दन्त्यः' भा० मु० ॥ २ तदीयस्य' मु० ॥ ३ 'मोत्रो नाम' प्र० ॥

सप्तमः सर्गः ।

अथोदयति निर्दोषे, सचिवेन्दौ नवे रवौ । कोकः कोकनदानन्दि, मन्दिमानमगान्महः ॥ १

गम्यः सोऽपि जगच्चक्षुश्चक्षुषा समपद्यत । क्व कालबलेनात्र, निस्तेजा नहि जायते[1] ॥ २

लौहित्यं विद्रुमालीषु, द्रुमालापल्लवेषु च । अधिकं निदधे व्रध्न, किरणैः कुङ्कुमारुणैः ॥ ३

शुशुभे दिक्षु सर्वासु, प्रज्वलत्तपनातपः । गिरस्थरविरस्नाद्रिः, पञ्चाग्निव्रतवानिव ॥ ४

वियोगव्यथया चीर्ण्य, साकूता चक्रकामिनीम । प्रभाना सहसवासस्नेहेनेव सरोजिनी ॥ ५

मित्रेऽस्तमागते दुःखादब्जैः प्रागान् जिहासुभिः । आलिभ्रामरिशिल्पालिव्याजादारोपिता हृदि ॥ ६

न मित्रमन्तरेणापि, क्षणमभ्यासवासरः । भवत्यभिचार्येव, सङ्गत गतदोषयोः ॥ ७

प्रतापः प्राप मन्दत्वं, वारुणीसेवया रवेः । भवेत् प्रभावमङ्काय, महतोऽपि हि दुष्कृतम् ॥ ८

निश्चला कस्य वाऽयस्य, भुवने श्रीर्भविष्यति[2] । आसीद् वसुविहीनोऽसौ, यदह्नामपि नायकः ॥ ९

अपि तादृशमस्ताद्रिर्दिनेशं निरकाशयत् । चिरं न ह्याश्रयः कापि, प्राप्यते दिवसात्यये ॥ १०

कुलायमाकुलाः सर्वे, पक्षिणस्तत्क्षणाद्ययुः । कल्पयन्त्यथवा यस्य, सा या सवितुरापदि[3] ॥ ११

वनान्ताद् धलमानेन, कुलेनोद्गमितैर्गवाम् । पांसुभिर्मांसलीभूतं, युतोऽप्याविरभूत् तमः ॥ १२

समन्ततोऽपि काष्ठाना, प्लुष्टाना चित्रभानुना । धूमेनेव तमिस्रेण, प्रसस्रे गगनाङ्गणे ॥ १३

मुक्त्वा निःश्रीकमम्भोजं मराली न गताऽन्यतः । भ्रमराली त्वगाद् वेगादिदं सदसदन्तरम् ॥ १४

त्रैलोक्यदीपके रवे, लोकान्तरमुपेयुषि । तमस्तानमभूद् विश्वं, क्व सुखी महदापदि[4] ॥ १५

गते भानौ स्थिते ध्वान्ते, पद्मिया साधु मीलितम् । दुरीक्षा महतामापदसतामुन्नतिश्च यत् ॥ १६

स्थिराऽथ प्रस्थिता सन्ध्या, व्रजद्राजिवराङ्गना । आक्रामत परं लोकं, रवेः पश्चात्प्रभूरिव ॥ १७

ससन्ध्यावासरं सूर्ये, मत्वा देशान्तरं गतम् । जाताऽनुजाविने रामसिव म्लानमभूज्जगत् ॥ १८

क्व गतः सविता[5] ध्वान्तमेतदभ्यागतं पुनः[5] । एव सविस्मयेव द्यौः, स्फारतारमवैक्षत ॥ १९

दीपकौ अपि दीप्यन्ता, स्फुरन्तु तिमिराण्यपि । तद्गतं हि सजातीयविजातीयासहं महः ॥ २०

स्तुतु सृष्टिर्विचित्रेयं, यस्मात् सङ्केनवमेना । सितानभिसरन्तीना, प्रकाशकमभूत् तमः ॥ २१

प्रदोषानन्तरं चन्द्रोदयादर्वाग् मूर्धान्दशाम् । मुहूर्तमभिसाराय, मारमौहूर्तिकोऽवदत् ॥ २२

सुरतव्रतचर्यायै, पर्यङ्कादपि सन्निनात् । पांसुलनामभून् पांसुलपङ्कीर्थे यंत्राधिकम् ॥ २३

नीरन्ध्रेणान्धकारेण, रोदसी सम्पुटीकृते । अधोत्पाटयितुं कोऽपि प्रवृत्त इव पूर्वतः ॥ २४

रचितोपक्रमे शशि, चक्रमाक्रमितुं दिशाम् । प्रभामन्मनं नासारमानिर्गमीत् पुरः स्फुरन् ॥ २५

रोहिणीरमणं वीक्ष्य, रागादागतमन्तिकम् । भास्वनरं तदुदयेनदश्मादस्मादिन्द्रदिक् ॥ २६

अथोज्जगाम सामन्तः, कुसुमायुधमहीपतेः । शृङ्गारस्य जयोद्दामकन्दः कुमुदबान्धवः ॥ २७

---

१ 'नात्र, क्व' प्र० ॥ २ 'वा यस्य, भ' बा० । 'वा यश, भ' प्र० ॥ ३ 'स्मरे ग' प्र० ॥
४ दीपिका मु० ॥ ५ यथाधि' प्र० ॥

आविर्बभूव पूर्वस्मादद्रेश्चन्द्रः शनैः शनैः । तेर्दर्यैस्तटमाणिक्यकिरणौघैरिवारुणः ॥ २८
चकार तारिकारोचिरङ्कुरोत्करकैतवात् । करस्पर्शेन रागिण्याः, सोमो रोमोद्गमं दिवः ॥ २९
पुंश्चलीनां तपश्छिदं, समुद्रस्य महोत्सवः । रससिद्धिरनङ्गस्य, दिवमिन्दुरगादगात् ॥ ३०
मालिन्यं मार्जयामास, चन्द्रमास्तिमिरैः कृतम् । खलैर्दत्तं मृषादोषमिव सत्पुरुषः सताम् ॥ ३१
व्योमाङ्गणविकीर्णानि, तमांसि तुहिनद्युतिः । ममार्ज रुचिमार्जन्या, कुल्टाकुलकण्टकः ॥ ३२
न मृगाङ्के कलङ्कोऽयं, कस्तूरीतिलकाकृतिः । निर्दग्धो नीलकण्ठेन, तिरश्चेप झषध्वजः ॥ ३३
दिवि स्वर्वाहिनी हंसैर्दिक्षु दन्तैश्च दन्तिनाम् । मेदुराऽजनि मेदिन्यां, कौमुदी कौमुदैर्वनैः ॥ ३४
कर्णेहत्य चकोरीणां गणः पीत्वा सुधासवम् । अजायत मदेनेव, गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणः ॥ ३५
मरीचिनिचये चान्द्रे, सति सान्द्रे समन्ततः । घटितं विष्टपं दन्तसन्तत्या दन्तिनामिव ॥ ३६
शान्तध्वान्त-घनस्तोमे, कौमुदी-शरदागमे । हरिद् श्यामोऽन्यतः श्वेतश्चकाशे चन्द्रसज्जनः ॥ ३७
चन्दनैश्चर्चितेव द्यौर्दिशः कर्पूरैरिव श्रिताः । क्षीरेण क्षालितेवोर्वी, शर्वरीशे विराजति ॥ ३८
पीयूषपायसैः प्रीतं, चकोरद्विजसञ्चयम् । श्रेयोऽर्थं मन्मथस्येव, चकार शिशिरद्युतिः ॥ ३९
मन्दोहैरिन्दुकान्तानां, तदा सञ्जयदम्भसाम् । प्रीतये चैत्रमित्रस्य, चन्द्रश्चक्रे प्रपा इव ॥ ४०
तरुणे तारकाध्यक्षे, वृक्षच्छाया विरेजिरे । तमसः खण्ड्यमानस्य, प्रतीकाः पतिता इव ॥ ४१
रमयत्यखिलामुर्वीमचण्डद्युतिमण्डले । कन्दर्पनृपते राज्यमेकच्छत्रमिवाभवत् ॥ ४२
सान्द्रे चन्द्रातपे तत्र, स्फुरद्भिः कैरवाकरैः । क्षीरनीरधिडिण्डीरपिण्डानां पाण्डिमा श्रितः ॥ ४३
नीरजन्मधुमत्तालिकुलकोलाहलैरिव । मानसे मदिराक्षीणां, प्रबुद्धः कुसुमायुधः ॥ ४४
अनल्पार्घाभिरारूपास्तेनिरे तदनन्तरम् । विजिगीषोरनङ्गस्य, सन्नाहाः सुभटैरिव ॥ ४५
ज्योत्स्नाजलनिमग्नायाः, कस्याश्चित् कुञ्चितभ्रुवः । शरीरे चन्दनं गौरे, सौरभ्यादन्वमीयत ॥ ४६
सर्वत्र व्यक्तशक्तीनां, तुषारद्युतिरोचिषाम् । जगाम वामनेत्राणां, केशपक्षो विपक्षताम् ॥ ४७
पिशुना निश्चयन्थेन, या शिशुनापि मूर्धनि । सा ज्योत्स्ना सुदृशां केशहस्तेन गल्हम्भिता ॥ ४८
स्तनः पादेषु कान्तानां, नखान्तः प्रतिमामिषात् । याचितुं वक्त्रलावण्यकणिकामिव चन्द्रमाः ॥ ४९
कबरी कैरवाक्षीणां, कबरा केतकीदलैः । हसन्तीव व्यभादाभा, विलक्षामेणलक्ष्मणः ॥ ५०
यामिन्यामिन्दुकान्तायां शुभ्रवस्त्रावगुण्ठनाः । धम्मिल्लोद्वासितं क्षिप्तं, विजह्रुरभिसारिकाः ॥ ५१
वधूनां वक्त्रमाविद्धं, रत्नकुण्डलकान्तिभिः । प्रियेषु सविलम्बेषु, रोषारुणमिव व्यभात् ॥ ५२
ताडपत्रश्रिया न्यस्तनीलाश्मगणवर्णया । पुस्तिकेव चकास्ति स्म, काचित् कामविपश्चितः ॥ ५३

शुचौ सुरुचौ धृतहारयष्टी, सकञ्चुकौ रञ्जनुम्बुजास्याः ।
रतं रिपनाया हृदि रक्षयाय, स्मरप्रयुक्ताविव सौविदल्लौ ॥ ५४

आकम्पिना शोभितकेलिशय्या, नियुद्धभूमिव वधूवरस्य ।
तत्रोपधानच्छलतो बभूव, निशावेदी स्मरपार्थिवस्य ॥ ५५

---

१ तडोयतट° का० ॥ २ सारका° प्र० ॥ ३ धारसम् मु० ॥ ४ °रियाधि° का० ॥ ५ इति का० मु० ॥ ६ शुलादाः का० ॥ ७ °सं पौरैः, सौ° मु० ॥ ८ °न, धीर्धि° मु० ॥

एकावली वक्षसि बिभ्रती, रराज गाढ़ीवनिलोचनाया ।
येन शल्यावेधविबोधहेतुर्लेखा वरिष्ठेयेव कृता स्मरेण ॥ ५६

दीपप्रभापिञ्जरितानि रेजुरन्योदराणा रत्नमन्दिराणि ।
आपूर्य चित्तान्यतिरिच्यमानैः, प्रियानुरागैरिव पूरितानि ॥ ५७

कुरङ्गनाभीहृतपङ्कभेङ्गी, कुचद्वयी चारुदृशश्चकाशे ।
सुमोषितस्य स्मरकुञ्जरस्य, मदाम्बुसिक्ता शयनस्थलीव ॥ ५८

माणिक्य-मुक्ताफल-काञ्चनाना, काचिन्मरीचिप्रचयार्चिताङ्गी ।
स्वराशु शीतांशु हुताशनाना, मह समूह पिहितेव रेजे ॥ ५९

ताम्बूल वस्त्रा ऽऽभरण प्रसून श्रीखण्डसंस्कारसमाकुलाभि ।
सुलोचनाना परिचारिकाभिरपूर्यत श्रीनिलयो सवश्री ॥ ६०

नव यथाश्चित्तमपास्तचिन्तमिव सुधांशुर्मधुरा परिस्रुत ।
सद्योऽनुकूलाश्च विलासिनीना गिरो तदा कान्तनिरूप्य एव ॥ ६१

अनिच्छतीना निजमानभङ्ग, सङ्ग प्रिये सत्वरमिच्छतीनाम् ।
अपेक्षितज्ञस्य मनस्विनीना, दूतीजनस्यावसरो बभूव ॥ ६२

विज्ञानपूर्व सितरोचिरेव, कृतव्यलीकै सह कार्मुकैर्य ।
दूने प्रकोपेऽथ निसर्गनीये, सन्धि विधत्ते स्म वधूजनस्य ॥ ६३

विभिन्नयोरङ्कि रणा रजयामुदङ्क्रदुर्द्धैस्तुतापयोश्च ।
स्त्री पुंसयो सङ्गमनर्थकं न, प्रागप्रदा काऽपि बभूव भूय ॥ ६४

मानार्गल काऽपि विलङ्घ्य वेश्म गन्तु प्रवृत्ता दयितस्य यावत् ।
तावत् स एव स्वयमाजगाम, काम किमिष्ट न करोति तुष्ट ॥ ६५

विलासवेश्माङ्गणमागतेषु कृतापराधेष्वपि वल्लभेषु ।
मनस्विनीनामथ मानमुद्रा, भ्रूभङ्गशेषामकरोदनङ्ग ॥ ६६

निष्कास्य काम प्रसभ प्रकोप, पुन प्रवेश प्रतिपेदुमन्य ।
अङ्गानि सारङ्गविलोचनाना, चक्रे स्फुट कण्टकवेष्टितानि ॥ ६७

कि नेत्रमार्गेण मनोज्ञरूपा, कर्णाध्वना वा मधुर वदन्ती ।
नासापथेनाथ सपुष्पवासा, प्रियस्य चित्ते प्रविवेश काचित् ॥ ६८

अगम्यमि सव्यवहार्यता गतैरनुज्ञयेव द्विजचक्रवर्तिन ।
कान्तै सम कान्तविलोचनाजन, परिस्रुत पातुमथोपचक्रमे ॥ ६९

कन्दर्पकेलिप्रथमप्रयोगसञ्जातलज्जामुकुलीकृतानि ।
तदा मदेन प्रकटीबभूवुर्मुग्धदृशा विभ्रमचेष्टितानि ॥ ७०

---

१ 'विवेश' प्र० ॥ २ अङ्ग प्र० । अङ्कि वा० ॥ ३ वदन्ती मु० ॥ ४ 'मथ प्रचक्र' प्र० ॥ ५ 'मुग्धमुग्धा प्र० ॥

असाय कन्दर्पगुरूपदेशान्मधं महानन्दमिवाङ्गनाभिः ।
व्यावृत्तवस्त्वन्तरवासनाभिः, कृता किरीटेऽपि पत्युपेक्षा ॥ ७१

मदाकुलानि प्रमदाकुलानि, विरेजुरापानगृहाङ्गणेषु ।
हृदि प्रविष्टस्मरचित्रपुङ्खदुःखादिवोद्घूर्णितमस्तकानि ॥ ७२

अधरैरधरीकृतं वधूनां, मधुमाधुर्यमवैमि विद्रुमाभैः ।
दयितैरत एव तेषु पानप्रतिपत्तिर्विहिता विहाय हालाम् ॥ ७३

परिजनैः प्रथमं गतमन्तिकादपसृतं वसनैर्जघनादथ ।
तदनु यानमथ त्रपया हृदः, स्थितमिहान्यमुखैव नतभ्रुवाम् ॥ ७४

आलिङ्गितायाः सुभगेन गाढमुद्दरम्भादल्पमार्दवेभ्यः ।
स्वेदोदबिन्दुच्छलतोऽपरस्याः, सुस्राव लावण्यमिवाङ्गकेभ्यः ॥ ७५

सकलमपि वपुर्विभिद्यमानं, मदनशरैरवलोक्य कामिनीनाम् ।
शरणमिव रदच्छदः प्रपेदे, प्रियवदनं यदलं प्रसह्य पातुम् ॥ ७६

मैरेयपानच्युतचेतनानां, तासामसाधारणविभ्रमाणाम् ।
नखाङ्कुरैरप्यनवाप्तसंज्ञो, गम्भीरवेदी मदनद्विपोऽभूत् ॥ ७७

आह्वातुं विषमशरं पुरोऽनुयोक्तो, दोर्वल्लीवलयरवोऽभवद् वधूनाम् ।
तैधज्वा मणितमभूत् मोहनाग्निष्टोमेऽस्मिन् मधुमधुराधरोष्ठसोमे ॥ ७८

निगदितुं विधिनाऽपि न शक्यते, सुभटता कुचयोः कुटिलभ्रुवाम् ।
सुरतसंयति यौ प्रियपीडितावपि नतिं न गतौ धृतकञ्चुकौ ॥ ७९

उपरतसुरतश्रमत्रियामासमयविराममनोरमैर्मरुद्भिः ।
सरसनखपदे हृदि प्रियाणामथ शयितः क्षणमन्यमासमाजः ॥ ८०

अथ नन्दमृतांशुबिम्बमौलिर्गलितवया इव शर्वरी व्यराजत् ।
अभजत ककुभे च जम्भभेतुर्भर्तुरसरक्त [illegible] प्रभाप्रवाहः ॥ ८१

यातः शीतरुचिः प्रतीचि जलधौ डिण्डीरपिण्डच्छवि–र्जृम्भारम्भमनोरमा कमलिनी सुमोधितैर्वामगत् ।
घकन्दं च विधिर्वियूज्य सदयं चक्रेषु चक्रे मनः, सौरेणाञ्जनि कुङ्कुमारुणमिव प्राचीमुखं रोचिषा ॥ ८२

देवोऽयं भुवनत्रयैकनयनं प्राप्तः प्रमाणां प्रभुः, कर्ता यः कमलोदयं जगदिदं मोहाम्बुधेरुद्धरन् ।
प्रातस्त्यः समयो वयोविहृतिभिर्योमेति यथांपथ–माचिच्छेद तदीयमन्धनमसत्याजेन संव्यानकम् ॥ ८३

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये चन्द्रोदयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



१ महाङ्कु' मु० ॥ २ 'बिम्बच्छ' ता० ॥ ३ 'छतः पर' प्र० ॥ ४ कुसुमशरै' मु० ॥ ५ वास्या, पो' ता० मु० ॥ ६ तथाऽन्या मणि' पा० मु० ॥

अष्टमः सर्गः ।

अथ पाथोजिनीनाथे, चुम्बत्याशा विडौजस । प्रबुद्ध पङ्कजैनर, श्रिय पात्रेण मन्त्रिणा ॥ १

कोकद्वन्द्व तदाऽऽश्लेषस्य, सङ्गत सम्भ्रमाद स । परकष्टे विनिष्टे हि, सता प्रीति प्रचीयते ॥ २

उन्माद वीक्ष्य पद्मानां, कुमुदाना च मन्दताम् । क्षणिकत्व विभूतीना, चेतसा निश्चिकाय स ॥ ३

कदाप्युदयति ध्वान्त, कदाप्यर्कस्य धिग् विधिम् । तुल्य नीचेऽप्यनीचेऽपि, स तदेति व्यतर्कयत् ॥ ४

कर विक्षेप तीक्ष्णाशुर्दुस्तरे तिमिराम्बुधौ । प्रदातुमिव मग्नस्य, भुवनस्यावलम्बनम् ॥ ५

विध्यायास्तिमिर तुच्छे, रेजुर्दीपाश्चलच्छिखा । पेङ्काभूते पय शेषे, स्फुरन्त शफरा इव ॥ ६

तीक्ष्णै सपदि भिन्दान, कराग्रैस्तिमिरासुरम् । गोपणवारण पूषा, प्रादुरासान्नृसिंहवत् ॥ ७

अथोज्जगाम यामव, कुमुदेषु प्रदर्शयन् । शिष्टपन्थ्यवहारैकप्राड्विवाको दिवाकर ॥ ८

मलिनीभवदाशान्ते, शान्ते ध्वान्तघनोदये । अजावतसित हसो, नभ कासारमासदत् ॥ ९

न्यौसीकृता पर देश, गच्छता भास्करेण या । स्फुट स्फटिकमूर्वेहि, प्रनिदधे स्म ता विभा ॥ १०

विवृतिर्विश्वसूत्रस्य, दशा निस्तिमिरौषधी । इष्टवार्ता च पद्माना, दिद्युते द्युमणिद्युति ॥ ११

चकोरचक्रवालस्य, पातशीत वरोदया । तमश्चक्रमथश्चक्रुश्चण्डरोचिर्मरीचय ॥ १२

प्रसारितकरे सूरसिन्धुरेऽद्रेऽनुधावति । सुमेर परिबभ्राम, तमस्तोम पुर सर ॥ १३

कुर्वाण किरणाङ्कूरैरयतसश्रिय दिशाम् । नभस्त्रिभागमागच्छद्दजिनीजीवित विभु ॥ १४

विलोलल्लोचना भ्रातर्मौलिमायानि तयजु । लोके हि कारणनैव, गौरव गुणिनामपि ॥ १५

हृदि प्रियवियुक्तानां, साञ्जना बाष्पबिन्दव । मग्नाना मारनाणाना, पुङ्खा इव विरेजिरे ॥ १६

बभ्राजे भुजगामास, नाशयस्तिमिरोत्करम् । सुवर्णरुचिराकार, सुपर्ण इव भास्कर ॥ १७

अथ धर्मैकनिष्णातो, निस्नात शुचिभिर्जलै । वस्तुपालस्त्रिकालज्ञ जगत्पूज्यमपूजयत् ॥ १८

वलक्षेणोत्तरीयेण, स बभौ बुद्धिमत्तर । तुरङ्गयुगभातेन, सुकृतेनेव संश्रित ॥ १९

मत्सरज्वरसन्तप्त, मध्ये मुक्त्वाऽ ममानसम् । आदिनाथः स्थितस्तस्य, हृदि सौहार्दशीतले ॥ २०

भाल तस्य विभाति स्म, चान्दनी तिलकाकृति । कृता सुकृतिना मध्ये, रेखा मुख्येव वेधसा ॥ २१

अलिङ्गित शर्मणेव, पृथग्भूत कलेरिव । सद्वृत्तेनेव निर्वृत्त, स तदा शुशुभे भृशम् ॥ २२

देवेन्द्र स्तुवतस्तस्य, रेजुर्दशनदीधय । तत्कालोन्मालितानन्दसुधांशुकिरणश्रिय ॥ २३

दत्त्वा दानानि पात्रेभ्यो, नत्वा गुरुजन च स । सत्त्वाश्रितेन चित्तेन, भव भावितवानिति ॥ २४

अहो ! ससारकारातर्गायानिगडितात्मनाम् । जायन्त जातु जन्तूना, न कथञ्चन निर्वृति ॥ २५

केचिद् द्युम्नाय धावन्ति प्रद्युम्नाय च केचन । नोद्युङ्क्ते कोऽपि धर्माय, सर्वाभिप्रेतहेतवे ॥ २६

मोदमानोऽन्तरामैव, साक्षी यत्कर्म शर्मणे । तमप्युपेक्षते धर्ममहो ! मूढमना जन ॥ २७

यस्मिन् सन्निहिते वह्नि विपाका प्रभवन्ति न । धर्मादप्यपरस्तस्मात्, क शरण्य शरीरिणाम् ? ॥ २८

धर्मसिद्धौ ध्रुवा सिद्धिर्द्युम्नप्रद्युम्नयोरपि । दुग्धोपलम्भे सुलभा, सम्पत्तिर्दधि सर्पिषो ॥ २९

---

१ प्रनष्टे मु० ॥ २ पक्कीभू० प्र० वा० ॥ ३ ता प्रभा प्र० ॥ ४ 'मानान्त' वा० ॥ ५ नो प्र० ॥

उच्चैर्गिरिं समारोप्य, नरं श्रीराशु नश्यति । दौःस्थ्यदत्तावलम्बोऽथ, स तस्मादवरोहति ॥ ३०

जितं लक्ष्मि ! त्वया यस्यै, जनस्तमपि सेवते । धनं निकारपूर्वं यत्, प्रदत्ते प्रेमनाथवत् ॥ ३१

धनस्याधर्मलब्धस्य, मुग्धो लाभेन तुष्यति । सुकृतस्य दुरापस्य, न तु हानिमवेक्षते ॥ ३२

प्रसाध्यते यया स्वर्गः, श्रिया सन्मार्गदत्तया । त्यक्त्वा तामप्यधर्मेण, मूर्खाः क्रीणन्ति दुष्कृतिम् ॥ ३३

स्वयमुत्पादितां लक्ष्मीं, पुत्रीमिव मनीषिणः । दत्त्वा पात्राय तद्दानफलमेवोपभुञ्जते ॥ ३४

पित्राद्यैरुपभुक्ता या, पुत्राद्यैरपि भोक्ष्यते । कामयन्ते न तां सन्तो, ग्रामवेश्यामिव श्रियम् ॥ ३५

तस्करैर्वा दुरीशैर्वा, हृतं संसहते धनम् । कदर्यो नैव सत्कार्ये, कल्पयत्यल्पमप्यदः ॥ ३६

अन्धा एव धनान्धाः स्युरिति सत्यं तथाहि ये । अन्योक्तेनाध्वना गच्छन्त्यन्यहस्तावलम्बिनः ॥ ३७

धनी धनापये जाते, दूरं दुःखेन दूयते । दीपहस्तः प्रदीपेऽस्ते, तमसा बाध्यतेऽधिकम् ॥ ३८

आदावेव निकारं यः, प्रदर्शयति देहिनाम् । भवोच्छेदैकमार्गेभ्यो, विभवः श्लाघ्यते स किम् ? ॥ ३९

न संसारस्य वैरस्यमिदं वेत्ति जडो जनः । यत् सुखं स सुखाभासो, यद् दुःखं दुःखमेव तत् ॥ ४०

रमयन्ति मनस्तावद्, भावाः संसारसम्भवाः । यावन्न श्रूयते साधुलोकैः फूत्कारकाहला ॥ ४१

अहो ! देहभृतां मोहः, प्ररोहति महानयम् । यदेते सुखमिच्छन्ति, विषयैर्दुःखहेतुभिः ॥ ४२

छत्रच्छायाच्छलेनामी, धात्रा चक्रे निवेशिताः । भ्रमन्तोऽपि स्वधामाने, मन्वते स्थिरमीश्वराः ॥ ४३

मदान्धास्ते परं लोकं, कथं पश्यन्तु भूभुजः ? । तमोमण्डलमध्यस्थाश्छत्रच्छायाच्छलेन ये ॥ ४४

सुखं विषयसेवेति, सक्तास्तत्रैव जन्तवः । यः प्रमोदस्तु तत्त्यागात्, तदास्वादः कचिद् यदि ॥ ४५

अयत्नं नश्वरं देहं, दुर्दमं च यमे द्विषि । हीरत्वमास्याद् विनिर्याति, यत् पुंसामिदमद्भुतम् ॥ ४६

कालेन शौनिकेनेव, नीयमानो जनः पशुः । क्षिपत्येष पिपासान्ते, मुखं विषयशाद्वले ॥ ४७

कायः कर्मकरोऽयं तन्नात्र कार्योऽतिलालना । भूमिगानोचितो ह्येष, प्रपुष्टो विचिकीर्षते ॥ ४८

प्रयोजनान्यकार्येषु, नश्यन्त्याशु महापदि । दुर्मित्राणीव शान्त्येव, बन्धुबुद्धिरधीमताम् ॥ ४९

योऽयं जीवितभूतेषु, स्नेहग्रन्थिः सुतादिषु । विभोगावसरे पुंसां, व्यक्तः सोऽपि भविष्यति ॥ ५०

दुःखाग्निर्वा स्मराग्निर्वा, क्रोधाग्निर्वा हृदि ज्वलन् । न हन्त ! शान्तिमायाति, देहिनामविवेकिनाम् ॥ ५१

अग्निमामेव सेवन्ते, हन्त ! विधां व्युदस्य ये । ते दूष्यामनुगच्छन्ते, नरारोहाविहारिणः ॥ ५२

तटस्थः प्रेक्षते योगी, जगदस्मिन् भवार्णवे । मज्जनोन्मज्जनं कुर्वद्, दुष्कृतैः सुकृतैर्निजैः ॥ ५३

विषयामिषमुत्सृज्य, दण्डमादाय ये स्थिताः । संसारसारमेयोऽसौ, बिभ्यत् तेभ्यः पलायते ॥ ५४

सर्वं सदनिर्गमेयं, दुःखैः पूर्णं निरन्तरम् । यत्सम्यग्व्यतिरेकेण, नान्यत् किञ्चिदिहात्मने ॥ ५५

गिरौ लिम्पति सत्कर्मे, यत्र धर्मः शरीरिणाम् । स एव केवलं तस्मादस्माकं जायतां गतिः ॥ ५६

मुक्तिरियमिति विचार्य पुण्यधैर्याः, त्रिदिवे विदधति तत्र तीर्थयात्राम् ।
विहरति पथः प्रशान्तसङ्गान्, ऋतुरपि नूतनपुष्पमल्लिकोऽभूत् ॥ ५७

१ 'श्वोऽप्यः, स मु० ॥ २ निकारः पूर्वं कीमत् निकारमिति भावः, तथ मतम् प्र० टि० ॥ ३ 'मपंस' का० मु० ॥ ४ भीडन्ति का० मु० ॥ ५ 'पठ्यमो' प्र० ॥ ६ 'मुरारे' मु० ॥ ७ 'ति सायं स' मु० ॥ ८ मतम् प्र० टि० ॥ ९ स्वस्ते प्र० ॥ १० 'कफूत्कारकाहलः' मु० ॥ ११ दास्यं माहया' का० मु० ॥ १२ विमपात्र' का० मु० ॥ १३ 'धर्मो मु० ॥ १४ पथप्रशान्तपहमधुर' मु० ॥

भवभवरोगमिमं विसृज्य सम्यग्, गलितरसैर्विषयेषु वारिवाहैः ।
मुनिभिरिव निबद्धमौनमुद्रैर्गगनवनं विमलाश्रममित्थ भेजे ॥ ५८

पतिरतिनपति स्म वासराणामतिशुभति स्म विभावरीभुजङ्ग ।
जलमतिभजति स्म निर्मलत्वं, मधुरमतिध्वनति स्म राजहंसी ॥ ५९

पुलिनपरिसरे सरस्वतीनामजनि समागमनं मुखञ्जनानाम् ।
भवति यदवलोकनादनाविष्कृतहसितारिमुखं सुखं जनानाम् ॥ ६०

क्षितिवलयजयोज्झितान्तरंगा, कलमविरमजलुब्धसिन्धुतीरा ।
शरदवनति स्म मत्तहंसा, दिशि दिशि काननरम्यकावतंसा ॥ ६१

कुटजविटपिन प्रसूनशून्यानलिपटलं परिहृत्य सप्तपर्णम् ।
समसरमत दन्तिदानगन्धैर्जगति समृद्धमुपैति सर्व एव ॥ ६२

विदेश्मिन्नगदादपद पयोदा, परिगलिताम्बुविभूतयो बभूवुः ।
अहह ! न सहते महीयसामप्युदयमिमं नियतिश्चिरायवैरा ॥ ६३

स्मरमयसमयाशये विनिद्रे, ऋतुपुरुषो भजतीति तथ्यमेव ।
दधतुरपरथा कथं विकाशं, दिनपति-रात्रिपती तदीयनेत्रे १ ॥ ६४

सरसिसुरभि सस्य समीर, कलमसमृद्धिसमुद्धता धरित्री ।
कलमपि कलहंसकामिनीना, गलितमथ व्यथयाञ्चकार पान्थान् ॥ ६५

फलयति फलशोद्भवे प्रवेश, मलयनगाश्रयिताः नभोविभागे ।
अगदगदमभूत् पयश्च पेय, ननु महतामुदयो भुवि न कस्य २ ॥ ६६

स्थगितमुपगत पयोधरागा, ध्वनिरजनिष्ट कदुर्घना विशिष्ट ।
परिहृतमवनीश शिखिभिर्नृत्यमल्पमिवपतति दधे ॥ ६७

गतकलुषत्वमभे पयोदैर्विधिरिति कृत स्वेयमिति स्वयं न कस्य ।
अधिपतिरभिगताग्रसुप्तमहा, नदिय सुरपतिसुमगमे तेज ॥ ६८

भास मेध्या चैत्रमास प्रदोषे, लोकालोकदीपिका दीपमार्गा ।
दुर्धर्दिशा नर्दग यत्र पथ्य, दिष्ट्या दिष्ट स प्रविष्ट पृथिव्याम् ॥ ६९

हंसाना नयनसृष्टिनो सुखानामागतैरिव मुर्गसमुसेप निशाम् ।
कमागिरिभुवनमार्गाधीशप्रलिनगमिन्य स्वपदुपमसङ्गाय ॥ ७०

स्वपदे धारि निपातिनाश्वधनुर्मध्य स्वस्वाश्रम पयोदा समदा भिमपतयपृगाश गभागा पु ।
भाति स्म प्रपदमरश्मयनिका तैरस्युनिष्ठि... श्यामार्थपमनंश स्यादृश दिशामिनदिर्देश ॥ ७१

॥ इति श्रीगूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि
महाकाव्ये परमार्थविचारो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

---

१ विलसित° का० पु० । २ अमरम° का० पु० । ३ स्वविषये स्वदेश यात्र पु० ।

नवमः सर्गः ।

चिकीर्षिता श्रीसचिवेन तीर्थयात्राऽथ सोऽयं[1] समयः समेतः ।
महात्मनामीहितकार्यसिद्धौ, विधिर्विधत्ते हि सदाऽऽनुकूल्यम् ॥ १

धर्मैकमित्रोपनिमन्त्रणार्थं, तेनार्थिमित्रेण चराः प्रयुक्ताः[2] ।
न केवलं स्वेन कृतार्थितेन, परैः कृतार्थैः कृतिना कृतार्थाः ॥ २

स्थानथाऽऽनन्दविसंस्थुलोऽयं, लोकः प्रयाणप्रवणश्चकार ।
उपक्रमे पुण्यकृतां क्रियाणां, रामस्यमभ्यस्यति को न साधुः ? ॥ ३

पाथेयवन्तः पथि योग्ययुग्याः, सोपानहः सोदकभाजनाश्च ।
श्रीवस्तुपालेन समं जनौघाः, प्रयाणकाय प्रवणा बभूवुः ॥ ४

आकारितस्तेन कृतादरेण, दूरादपि श्राद्धजनः समेतः ।
यद्युस्तदीयानि पुनर्यशांसि, दिगन्तरेभ्योऽपि दिगन्तराणि ॥ ५

समं समग्रैरपि बन्धुवर्गैर्निसर्गबन्धुर्बुधसंजस्य ।
शुभे मुहूर्तेऽथ शुभैर्निमित्तैर्मन्त्री स्वनाथानुमतः प्रतस्थे ॥ ६

पुरः प्रशस्तां फल-पुष्पहस्तां, प्रमोदमानः प्रमदां विलोक्य ।
निरन्तरायां पथि तीर्थयात्रां, मन्त्रीश्वरश्चेतसि निश्चिकाय ॥ ७

स्थितः क्षणं क्षीरतरोरधस्तात्, श्रुतानुवृत्तान् सुजनान् निवर्त्य ।
खरस्य वामं स्वरमध्वगामी, शुश्राव सुश्रावकचक्रशक्रः[3] ॥ ८

अक्षेषु नित्यं कृतनिग्रहोऽपि, जग्राह तांस्तान् नियमानमात्यः ।
स्वभावशुद्धाः सुधियो हि तेषां, पावित्र्यलाभाय तथापि लोभः ॥ ९

रथैस्तुरङ्गैः करभैर्महोक्षैर्गमुस्तदा केऽपि कथञ्चनापि ।
मन्त्रीश्वरे धर्मधराधुरीणे, तस्मिन् विशश्राम भरस्तु तेषाम् ॥ १०

न वाहनं यस्य स तस्य यानं, नासीद् धनं यस्य स तस्य वित्तम् ।
न चीवरं यस्य स तस्य वस्त्रं, कल्पद्रुकल्पः[4] प्रददौ[5] पदव्याम् ॥ ११

भुङ्क्ते स्म सर्वेष्वपि भुक्तवत्सु, शेते स्म सुप्तेषु स यात्रिकेषु ।
प्रबुध्यते स्म प्रथमं तदित्थं, सद्मप्रभुवद्व्रतमाचचार ॥ १२

प्रभूतभोग्यानि बहूदकानि, सगोरसान्युन्मदमानवानि ।
तस्यातिदुर्गेऽपि पथि प्रयाणान्युद्यानलीलासदृशान्यभूवन् ॥ १३

---

१ °यं शारदा समे° मु० ॥ २ निबन्धनार्थं मु० ॥ ३ °भृ स्वम° प्र० वा० ॥ ४ °दापतः वा० कां० ॥ ५ °दौ पृथिव्याम् वा० मु० ॥

यात्राप्रसङ्गेन जगाम येषु, पुरेषु पौरोच्छ्रिततोरणेषु ।
तेषामधीशैः सविशेषमेष, सम्मान्यमानः सममानयत् तान् ॥ १४

अभ्यर्थ्यमानः पथिकैरनेकैर्वस्तून्यनेकान्यपि वस्तुपालः ।
तेभ्यः प्रभूतानि पथि प्रयच्छन्, नाहङ्करोति स्म न कुप्यति स्म ॥ १५

गीतानि जैनान्युचितानि गातुं, जनो जगौ वर्त्मनि मध्यमध्ये ।
प्रमोदपूरोद्गतरोमराजिर्निरन्तरं तस्य पुनर्यशांसि ॥ १६

अनुक्रमेण प्रसृताऽस्य साधोः, सा श्रेणी यानिकधोरणानाम् ।
वैमानिकैर्व्योमनि नाकिलोकैर्भूमानयष्टिप्रतिमा व्यलोकि ॥ १७

पुरश्च पृष्ठेऽपि च पार्श्वयोश्च, परिस्फुरत्खड्गविहस्ताः ।
यात्राजनं वर्त्मनि तस्य शश्वद्वाधिरूढाः सुभटा ररक्षुः ॥ १८

समुद्धृतैर्जीर्णजिनेन्द्रहर्म्यैर्नवैः सरोभिश्च सरोजरम्यैः ।
प्रस्थानमार्गः सचिवस्य सोऽभूद्जनाननामप्युपलक्षणीयः ॥ १९

यावन्ति बिम्बानि जिनेश्वराणां, श्वेताम्बराणां च कदम्बकानि ।
मार्गेषु तेषां मुनिनाश्रितानि, पूजां स निर्वर्त्य ततः प्रतस्थे ॥ २०

स पद्मपैर्निर्विषमप्रपञ्चप्रयाणकैः प्रीणितमहल्लोकः ।
धराधरं धर्मधुरन्धरः श्रीशत्रुञ्जयं शत्रुजयी जगाम ॥ २१

आरात् सभायादपि मुदेऽस्मिन्नस्तोकचये यस्मात्मुत्कचेता ।
मन्त्री मिथ्यामर्दनोपमर्दं, कपर्दिनं नाम ननाम यक्षम् ॥ २२

स कर्दमैस्तस्य तनुं कपर्दियक्षस्य यक्षोपमदेविलिप्य ।
पुष्पैरनेकैर्विलसद्विवेकस्त्रिलोकपूज्यस्य चकार पूजाम् ॥ २३

अन्याश्रमाद्गततमःपापप्रमोगा भृङ्गभृता जनेन ।
शृङ्गाग्रिम्यामग्रिमसुखोऽपि, सोऽथ सुमेराऽरुरोह गिरीन्द्रं ॥ २४

तत्राऽऽदिनाथस्य नमस्यमूर्तेः, स्नात्रं च पूजां च विधाय मन्त्री ।
पुरः पुरन्ध्रीनयना प्रमोदोल्लसन्मना नृत्यमकारयत् सः ॥ २५

सञ्चिन्त्यमाप्यदृष्टपो, नै स्थान् बिम्बपदर्शनीयम् ।
अमेयतेजोमयमप्रमेयम् यथा पुमान् परम स मन्त्री ॥ २६

विरच्यमानं सचिवेन तेन पूजाविधौ पूज्यतमस्य तस्य ।
सद्गुरुमन्नानउच्छुनन, गन्धवाऽऽरोपयन् भृङ्गगणः ॥ २७

न केवलं केवलिचक्रवर्ती, दृष्टःकर्दमः सचिवस्य सोऽभूत् ।
शुश्रूषयाऽन्येन दिगम्बरस्य, नवानने नाम वरस्य नैर्मल्यम् ॥ २८

---

१ भैमानुचि॰ बा॰ ॥ २ ॰यजस्य प्र॰ बा॰ ॥ ३ व्यापारश्री यां॰ बा॰ बा॰ । ता धोर
णियां॰ मु॰ ॥ ४ ॰समापतौ॰ बा॰ मु॰ ॥ ५ महोग्र॰ बा॰ । महोग्रः मु॰ ॥ ६ स्नात्रं च मु॰ ॥
७ ॰मृत्यात्मना बा॰ मु॰ ॥ ८ ॰स्य मतोऽप्रमाणम् मु॰ ॥ ९ यदीयम् बा॰ मु॰ ॥

श्रीनाभिसूनुर्भगनाभिमुख्यैः, पूजोपहारैः प्रचुरैः प्रसन्नः ।
मन्ये स्वभावादपि वीतरागः, स स्फीतरागः सचिवे बभूव ॥ २९

स श्वेत-पीतैर्वसनैर्व्यधत्त, धाम्नि प्रभोस्तस्य महापताकाम् ।
सरोजराजीरजसाऽनुविद्धो, जिग्ये यया सिद्धसरित्प्रवाहः ॥ ३०

धर्माय निर्मापयति स्म तस्मिन्, मन्त्री धरित्रीभृति वस्तुपालः ।
श्रीनेमि-पार्श्वप्रभुहर्म्ययुग्ममग्रमनेनाचलशृङ्गचारु ॥ ३१

प्रासादसौन्दर्यविलोकनेन, सम्भूतभूयस्तरसम्भ्रमाणाम् ।
विभान्ति तत्कान्तिकरम्बितानि, स्तम्भितानीव दिशां मुखानि ॥ ३२

यदुत्तमाङ्गस्थितशातकुम्भकुम्भध्वजस्फूर्जदभीशुभिन्नाः ।
अन्येऽप्यनेन्या इव वासरान्ते, चिराद् विराजन्ति कराः स्वांशोः ॥ ३३

कथं न विवेककुटुम्बकन्दोऽसौ ४, यस्तत्कभेदं घटयाञ्चकार ।
यन्मण्डपे चण्डपपौत्रपौत्रः, स्वपूर्वजानां सुहृदां च मूर्तीः ॥ ३४

स्वस्यानुजस्यापि च मूर्तियुग्मं, तुरङ्गयुग्मस्थमचीकरद् यः ।
मनीषिणां मुख्यतमोऽपि मन्ये, बृहस्थमात्मानमयं न वेत्ति ॥ ३५

शैलोपकण्ठेऽयमकुण्ठबुद्धिः, सरः सरस्वत्सदृशं चकार ।
उष्णेऽपि नोष्णानि भवन्ति यस्य, वारीणि रोगापगजीवितानि ॥ ३६

द्वित्राणि तत्रैव दिनानि नीत्वा, कीत्वाऽर्थदानैः सुकृतं यशश्च ।
कथञ्चिदापृच्छय तमीशमाथ, माघन्नसौ रैवतकं जगाम ॥ ३७

तमुज्जयन्ताभिधसंज्ञमद्रिमाक्राविश्याखिलसद्वलोकः ।
स विश्वमुच्चैरमृतेन सिञ्चन्नुपागमन्नव्य इवाम्बुवाहः ॥ ३८

तुरङ्गमाणां चरणाग्रघातैरुद्धूतधूलीपटलच्छलेन ।
तस्य प्रयाणे प्रणयिप्रियत्वं, नगोऽनुगच्छन्निव स व्यराजत् ॥ ३९

नरो न रोगापदमाप कोऽपि, न क्वापि यानव्यसनं बभूव ।
कस्याप्यभूत् तत्सुकृतप्रभावान्न वस्तुनो हानिरहानि तानि ॥ ४०

सुखेन सार्धं पथि यात्रिकाणां, सिन्धूरगाधा अपि तास्ततार ।
संसारनामानमपारमब्धिं, स तु स्वयं लङ्घयितुं प्रवृत्तः ॥ ४१

मनागनालोकितदुर्निमित्तः, पदे पदे प्राज्यतृणोदकाढ्यः ।
अहिंसर्जमिश्च बभूव तस्य, मार्गः सुदुर्गोऽपि किलानुकूलः ॥ ४२

तीर्थैः समग्रैरुपचर्यमाणं, सिद्धैरनेकैरुपरुध्यमानम् ।
ग्लैरनन्तैरुपचीयमानं, मूर्तैः प्रभूतैरुपजीव्यमानम् ॥ ४३

---

१ स्फा अपि धा° मु° ॥ २ °पयग्नि° ना° ॥ ३ °स्य, जनोऽनु° कां° ॥ ४ °तुं समर्थः प्र° ॥ ५ °पस्य ब° ना° मु° ॥

फलानि पुष्पाणि मनोरमाणि, यस्य द्रुमाः प्रत्यहमुद्वहन्ति ।
अत्यन्तभक्तेषु भवत्यवश्यं, श्रियै महत्यै महतामुपास्तिः ॥ ५९ ॥
श्रीनेमिनाथेन जिनेश्वरेण, पवित्रिते यत्र धराधरेन्द्रे ।
हिंस्राः समुज्झन्ति परःसहस्राः, स्वभावसिद्धामपि वैरबुद्धिम् ॥ ६० ॥
तं गोत्रमुख्यं विधृतक्षमं च, सद्वंशजातं च समुन्नतं च ।
श्रीवस्तुपालः कमलाढ्यकुल्यं, स्वैकान्यमुर्वीधरमारुरोह ॥ ६१ ॥
रींगान् धुरीणान् युगतो वियुज्य, जनेषु यातेषु तमङ्घ्रिमुच्चैः ।
अस्थायि तेषां शकटैरधस्तान्न सङ्गतिः स्याद् वृषवर्जितानाम् ॥ ६२ ॥
न केवलं शैलशिरोऽधिरूढः, समानमानानधरीचकार ।
अधो विधातुं स विशुद्धबुद्धिः, संसारमप्यारभते स्म मन्त्री ॥ ६३ ॥
श्रीनेमिनामानममानवीर्यैस्तेजोभिरभ्युज्ज्वलयन्तमाशाः ।
जिनेन्द्रमत्रैव जनेन्द्रमन्त्री, निदर्शनातीतमसौ ददर्श ॥ ६४ ॥
स्नात्रं स पात्रप्रतिपादितार्थस्तीर्थोदकैस्तीर्थकरस्य तस्य ।
कृत्वा च कृष्णागुरु-चन्दनाद्यैर्विलेपनं धौतमलानुलेपः ॥ ६५ ॥
घनैः प्रसूनैर्वसनैरनूनैः, पत्रैः पवित्रैरशनैः प्रधानैः ।
नृत्तैर्वधूनां च गृहीतचित्तैर्गानैः सदानैर्विततान पूजाम् ॥ ६६ ॥ युग्मम् ॥
प्रभोः सपर्याविसरेषु तस्य, कर्पूरधूपे परितः स्फुरद्भिः ।
तमग्रिमेकं सुरभीचकार, दिशो यशोभिः स पुनः समग्राः ॥ ६७ ॥
श्रीनेमिनाथावसथान्तरस्थे, कर्पूर-कृष्णागुरुधूपधूमे ।
पलायमानः कलिरेव कालस्तत्कालमासीन्मशकानुकारी ॥ ६८ ॥
धर्मक्रियाविस्मृतराजकार्यस्तत्रैव निन्ये स बहून्यहानि ।
असक्तमासक्तमनःस्थितेऽर्थे, कालातिपातं न हि वेत्ति चेतः ॥ ६९ ॥
नमन्नमन्दप्रतिभः प्रभासे, चन्द्रप्रभं चन्द्रसमानकीर्तिः ।
श्लाघाचलत्कन्धरमाललोके, लोकेन सौराष्ट्रनिवासिनाऽसौ ॥ ७० ॥
अभ्यर्च्य भक्त्या भवमत्र तीर्थे, श्रीसोमनाथाभिधया प्रसिद्धम् ।
प्रसप्रसूनाञ्जलिना प्रदत्तो, जलाञ्जलिस्तेन पुनर्भवाय ॥ ७१ ॥
तेनोपनीतैर्घनसारधूपैः, स्वयङ्कृतज्ञारितमीनकेतुः ।
शङ्के स रुद्रेश्वरकन्धराभैर्विहाय विश्वं सुरभीचकार ॥ ७२ ॥
अनेन सत्यापितसद्गुरूपदेशेन तद्देशनिवासिनीनाम् ।
सुवासिनीनां वदनाब्जराजौ, निवेशिता स्वस्तुतिराजहंसी ॥ ७२ ॥

---

१ स्वतुल्यमु° प्र० खं० ॥ २ °धातुं सुधि° सं० ॥ ३ °रभ्युज्ज्व° बा० का० ॥ ४ स्नातं स मु० ॥ ५ °स्पूरैः परि° मु० ॥

সপ্তম পরিচ্ছেদ।

KATHAVATE'S INTRODUCTION
to the first edition of
KĪRTIKAUMUDI

Kirtikaumudī, like *Vikramankadevacharita* and *Śriharshacharita*, is a Panegyric written by a poet on his patron In this instance the patron is not a king, but the the minister of a king In order to interest the reader in the poem, it is enough to mention that it was the hero of this panegyric and his brother who erected the justly famed *Jaina temples* on Mount Abu If a sentimental traveller while winding his way to the temples through the mountain, is held enchanted by the huge rocks sending into the skies their fantastic summits if the thick forest enriched by the fragrant *Champa* the shady *Jambu* loaded with luscious fruit, the tall *Pangarā* covered with a dazzling blossom the delicious jasmine and the delicate *Śirisha*, and made sonorous by endless varieties of the notes of birds charms the senses if majestic nature subdues his heart by pleasing grandeur on the way on entering these lovely edifices he is compelled to admit that art, Nature's daughter, has charms which are her own No better description of these triumphs of art can be conceived than the following —

" The principal feature in each is the usual octagonal dome, forming a vestibule to the adytum, wherein the objects of worship are enshrined and around which is a columned peristyle, roofed with numerous domes The whole edifice is of white marble and the sculptured ornaments with which every part of the surface is covered are so finely chiselled, as to suggest the idea that they have been moulded of wax, the semi transparent edges almost realizing by their hardly perceptible thickness, the mathematician s definition of a line The pendant which hangs from the centre of the dome of the temple of Tejpal is particularly remarkable, and rivets the attention of every visitor As Colonel Tod justly remarks, ' the delineation of it defies the pen, and would tax to the utmost the pencil of the most patient artist and he is secure in asserting that no ornament of the most florid style of Gothic architecture can be compared with it in richness ' It appears like a cluster of the half-disclosed lotus, whose cups are so thin, so transparent and so accurately wrought, that it fixes the eye in admiration The sculpture of these temples does not, however, confine itself to the representation of inanimate natural objects, it exercises itself also upon the scenes of domestic life the labours of navigation and commerce, and the struggles of the battle-field and it may be safely asserted that the student of antiquities, who should devote sufficient attention to these bas-reliefs, would be amply repaid by a large increase of knowledge regarding many interesting points in the manners and customs of mediaeval India – *Forbes Rasmala*

The present account of those great men to whose liberality India is indebted for these artistic structures is further interesting as being a contemporary record Indeed if commemoration of events of the time had been the author s aim more

than showing his own skill in devising new modes of adulation and winning for his work the name of a Mahākāvya, the purposes of antiquarian inquiry would have been better served. As it is, the poem throws some light on the obscure period when the *Anahillavāda* house was superseded by the *Dhavalakkaka* house. But before making an analysis of the facts contained in the poem, it will be well to note what is known of the author and make some estimate of the merits of his writings.

II

The name of the author is *Someśvaradeva*. It is mentioned at the end of each canto and also in the body of the poem. At the end of each canto it is mentioned that the poet was the family-priest of the king of the *Gūrjaras*. In the beginning of the poem the poet says,[1] "*Śrī Someśvaradeva* delineates the character of *Vastupāla*, seeing that minister's devotion to himself (*Someśvara*, the author) is extreme, that his (the minister's) family is illustrious, his personal appearance splendid, his conduct excellent, his charity accompanied by courtesy, his elevated position such as humbles his foes, his talents such as defy those of *Bṛhaspati*, his mercy such as crushes all germ of fear, his fame an ornament of the earth, his administration regulated by justice." He further declares, in his own way, that it was genuine admiration of his hero that prompted the poem. He says, "in consequence of the excessive joy at finding a treasure of rubies in the excellent qualifications of the great minister, the muse of *Śrī Someśvara* is impatient to sing." Further on[2] the poet mentions that he was the priest of *Lavaṇaprasāda* of *Dhavalakkaka*, a prince descended from one of the kings of *Anahillapura*.

I have met with several inscriptions composed by *Someśvara* two in the temple on Mount Abu, built by *Vastupāla's* brother, are given in the Appendix. These are dated 1297 *Samvat* or 1241 A. D. There is a third at *Dabhoi*, in the territory of His Highness the *Gāyakvāda*, on one side of the gate called *Hīrā Bhāgola*. Greater part of it has become illegible. The stone on which it is inscribed is broken, and many lines are altogether effaced. It contains several found in the *Kīrtikaumudī* and in one of the inscriptions on Mount Abu. The line in which the author's name is mentioned runs thus:—

> प्रशस्तिमेतां .. .. शर्वभूतभूपालपुरोहितेशः ।
> चकार सोमेश्वरदेवनामा यात्रार्थनिष्पन्नमहाप्रबन्धः ।

It is dated 1311 *Samvat* (1255 A. D.) *Jyeshtha Sudi Budha Dine*, Wednesday the ..... day of the moonlight fortnight of *Jyeshtha*. The inscriptions in *Vastupāla's* temple on the *Satruñjaya* hill are the composition of this poet. I have not seen them, but from the photographs which Dr. *Bühler* kindly showed to me, I find they are dated 1288 *Samvat* (1232 A D), the 10th day of the dark fortnight of *Phālguna*.

From this evidence it is clear that *Someśvara* was the family-priest of *Bhīmadeva of Anahillavāda Pattana* and of *Lavaṇaprasāda* of Dholka, and that he was patronised by the two Jaina ministers, *Vastupāla* and *Tejhpāla*[3] whom he entertained by his witty poems panegyrics. The *Chaturvimśati Prabandh* of

1 Page 5, Sts 45 to 48 2 Page 16, St. 84 3 This work was written in 1405 *Samvat*, or 1349 A. D, at the instance of *Mahanasimha* at *Dilli* (Delhi ?)

Rājaśekhara contains several anecdotes regarding *Someśvara* and his patrons, the two ministers It appears from one of the *Prabandhas* that there was great jealousy between *Someśvara* and the *Jaina Panditas* of his time One of these *Harihara*[1] came to the court of *Viradhavala* By his wit and learning he gained the favour of the king as well as of the minister *Vastupāla* This roused the jealousy of *Someśvara*, who never attended the court when *Harihara* was present But once the king sent for *Someśvara*, and asked him to read before *Harihara* a poem consisting of one hundred and eight verses which he (*Someśvara*) had composed for being inscribed on a tablet in a new temple of *Vira Narāyana*, built by the king. *Harihara* heard the verses, and said they were good-he knew them. The king looked surprised, but *Harihara* immmediately recited them word for word *Someśvara* was overwhelmed with shame When all left the court, he went to *Vastupāla* and assured him that the poem was really his own composition, and asked him how he could free himself from the unmerited disgrace *Vastupāla* advised him to seek the friendship of *Harihara* *Someśvara* was obliged to listen to the advice, and when he was thus humbled, *Harihara* one day went to the king's court and related how he had acquired by certain austerities the power of committing to memory, only by hearing once, any number of verses not exceeding one hundred and eight. He assured the king that the poem in question was an original composition of *Someśvara* *Someśvara*'s credit was re-established The *Prabandha* goes on to say that *Harihara*, after some days, left the court, being disgusted with the jealousy of *Someśvara*

It will appear from the sequel that *Someśvara*'s influence at the court remained undiminished even after the accession of *Visaldeva* to the throne of *Pattana*, and that he was able to prove the sincerity of his love to his patron by saving him from the effects of the displeasure of that young king

I have been told that there is a commentary on *Kāvyaprakāśa* written by *Someśvara*, and also a life of *Kumarapala* There is a copy of the first at Jessalmir, and one of the second in the celebrated *Bhāndāra* at *Pattana* I tried hard to get at this book, but to no purpose

As to the poetical merit of the present work, I humbly think that it does show that the author possessed to a certain extent 'the vision and the faculty divine ' It must be admitted that his taste was affected by the corrupt tendency of his age His work is full of play upon words and all varieties of alliteration But he employes these generally whenever he is writing on worn out and exhausted topics Whenever he has got anything new to say, and he frequently has it, his expression is happy and full of feeling The dream of *Viradhavala*, containing the wail of the guardian deity of the kingdom of Gujarat for her past glory, is a splendid composition It is translated into English by Dr *Buhler* -(See Indian Antiquary, page 189, volume VI, Part LXIX) The descriptions of the morning and evening and of the seasons are also remarkable Some of the reflexions on moral and political subjects are extremely well conceived In describing the disinterestedness of his hero, he says, he (the minister) was not only free from the desire of appropriating the wealth of the people, but was even above the

1 He is mentioned in *Kirtikaumudi* See page 3 (P 4 in this edition) St. 25

temptation of praise. Many an administrator, even at the present day, may well study the precept contained in this. In one place he expresses his wonder at the bewilderment of man who neglects his duty, though the inner soul bears direct testimony to its paramount claim by rejoicing when it is fulfilled. This is another mode of expressing the doctrine that conscience is the final ethical sanction or standard. His style is generally clear and felicitous, and barring the puns the writing may be regarded as one of good taste. One accustomed to read *Sanskṛita* poetry may not regard an hour or two spent in reading it as ill spent.

III

For those scholars who do not read *Sanskṛita*, I propose to give a short abstract of the contents of this poem. It opens with an invocation of the blessing of *Vishṇu*, *Śiva* and *Pārvatī* and *Śiva* and *Vishṇu* in incorporate forms, and lastly, *Sarasvatī*, the goddess of learning. Then, after making his obeisance to poets in general, the poet goes on to mention in particular *Vālmīki*, *Vyāsa*, *Kālidāsa*, *Māgha*, *Bhāravi* and *Bāṇa*, paying some graceful compliment to each. Then follow more modern and less generally known authors. They are *Dhanpāla*, *Bihlana*, *Hemasūri*, *Nīlakaṇṭha*, *Prahlādanadeva*, *Narachandra*, *Vijayasimha*, *Subhaṭa*, *Harihara*, *Yaśovīra* and *Vastupāla*. Next, a few verses are devoted to the praise of good men and to the deprecation of wicked men. Then the poet mentions that it was his sincere admiration of the virtues of *Vastupāla* and the kindness which that minister always showed to him, which prompted him to write the poem. Thus finishing his introduction, the poet enters upon the subject of his poem. *Anahillpura* is described as a large city protected by a fortification. It has extensive gardens. The palaces in it are large, and the bright terraces seem as if they were all silver. On all sides are heard *Vedas* repeated, joyful songs sung and praises chanted by bards. There is a large temple of *Mahādeva* in it. The population is not exclusively *Jaina*, for sacrificial smoke is described as going up to heaven The river *Sarasvatī* runs by its side. The women in the city are beautiful, and adorn their persons with rich ornaments. The dust raised by prancing horses is put down by the rut flowing from the temples of elephants. The palaces are lofty like mountains, and their tops are adorned by flags Beautiful women attract the hearts of young men, yet no irregularity follows, as the administration of justice is perfect. Near the town there is a large lake surrounded on all sides by temples, and having on one side a triumphal column of enormous height.[1]

In giving an account of *Anahillapura* kings, the poet does not begin with *Vanarāja*, but begins with the accession of *Mūlarāja* to the throne. The sovereignty of Gujarat is described as having offered herself of her free choice to *Mūlarāja*. This means, I suppose, that he was not the direct heir to the throne, but came by it through the influence of some leading men from the state. Of his exploits, his defeat of the *Lāṭas* under the command of their general *Bārapa* and the seizure of his elephants and his fight with *Laksha*, called *Lākha-Phulāni*, are mentioned.[2]

His successor was *Chāmundarāja*[3] His son *Vallabharāja*[4] succeeded him. He

1 The triumphal column is now gone One can still see the site of the lake The basin is all filled up, but the limits are visible. It seems it extended over several miles and presumably was used for agricultural and gardening purposes 2 *Vichāraśreṇi* of *Merutunga* assigns to the accession of *Mūlarāja* the date 1017 *Samvat* 3 This name is ommitted in *Vichāraśreṇi* 4 1052

was so brave that he won for himself the name of *Jagatkampana*. The next king was his brother *Durlabharāja*,[1] whose hand never fell on the wives of other people, and never on the wealth of *Brāhmanas*. His successor was *Bhīmarāja*,[2] his nephew, who always kept an efficient check on the king of *Mālvā*, but who spared his life though he had fallen into his hands. The crown descended after him to *Karna*,[3] whose fame reached far. His son was the well known *Jayāsimha*,[4] who subdued all kings. He defeated, in a battle, *Khengāra* of *Soreth*, whose bravery knew no bounds. He reduced to subjection the king of *Sindh*.[5] He conquered and again restored the kingdom of *Arnorāja*. The king of *Sākambharī* saw that the enemies of *Jayasimha* atoned for their enmity with him, with their lives and yielded to his power. He defeated the *Paramāra* king and took *Naravarman*, the king of *Dhara*, a prisoner, and took possession of his city. The king of *Mahobaka*,[6] taking a lesson from the fate of *Dhārā*, presented him with sums of money under the colour of his being a guest. His conquests extended in all directions. The *Gouḍa* country, celebrated for ghee, fell into his hands. He conquered *Barbbara*, the chief of Demons, and got the name *Siddharāja*.[7] His successor was *Kumārapāla*.[8] His valour was as great as his accomplishments. He is described as relinquishing the wealth of the deceased, by which, very probably, is meant that he extended the the right of succession to more indirect descendants than was allowed by the law then prevalent. Among the kings whom he conquered were the *Jangala* king, and the kings *Ballāla* and *Mallikārjuna* of *Mālvā* and the Concan. The fact of his having yielded to the influence of Jainism is described by the poet as his having made a vow, at the request of kings and beasts of the forest, not to take any life. His successor[9] was *Ajayapāla*. He forcibly wrested from the *Jangala* king, as a punishment, a gold *Manjapīṭhā*[10] and his furious elephants. His return to *Hindu Orthodoxy* is described as his having given to *Brāhmanas* the earth after he purified by his weapons. He is described as daily marrying wives, daily giving gifts, and daily punishing kings. His son was *Mūlarāja*,[11] who scattered the forces of the king of the *Turushkas*.[12] He was succeeded by his brother *Bhīma*.[13] The kingdom of this simple king was divided amongst themselves, by his ministers and dependent kings. *Arnorāja*, a scion of another branch of the *Chaulukya*[14] family, resented this act of spoliation, and began to establish the sovereignty of his house-again. He fought bravely all his life, and killed in his attempt at re-organising the kingdom which was broken up. His son, *Lavanaprasāda*, is described by the poet as being his (poet's) contemporary. He conquered the king of *Nadula*. The king of *Dhārā* came to invade his dominions, but, finding him firm in his opposition, retraced his steps. *Singhana*, the king of the southern country, whose army was numerous but personal valour limited, avoided hostility with him, as his personal valour was great, though his army was small. His son, *Viradhavala*, was equal to

---

1 1066. 2 1078. 3 1120. 4 1150. 5 I am not sure सिन्धुराट् means the king of Sindh. It may be a proper name. 6 Madanavarma. 7 Those that keep in subjection evil spirits are called *Siddhas*. 8 1199-1 Merutunga says that at the end of the reign of *Jayasimha* (*Kartik sudi tritiya*) there was an interregnum of 3 days. *Kumārapāla* is described as the grandson of *Bhimaraja* through the male line. 9 1232. [illegible] *Phālguna sudi*. An interregnum of 30 months and 7 days after the death of *Kumārapāla*. 10 Probably what is now called *Ambāri*. 11 1234 *Chaitra Sudi Chaturthi*. 12 Mahomedans. 13 1235. 14 Arnorāja was the son of the sister of the mother of *Kumārapāla*. This line is called *Vaghela* or *Vyāghrapalli* line.

him in valour and risked his life in battles most freely One night *Lavanaprasâda* saw a strange dream in which he saw that the gurdian deity of the kingdom of *Pattana* came and threw a garland around his neck The king immediately sent for his son and his religious preceptor the poet and asked the latter what the dream meant He explained to him that it was an offer made to him by providence of the sovereignty of Gujarat and that he should immediately set about to establish his sovereignty over the country, which was at that time divided by powerful men among themselves As a preliminary step to this the king proposed to appoint some able minister to govern the country he had conquered No sooner did this idea suggest itself of the king than he thought of the two able brothers *Vastupâla* and *Tejahpâla* They were sent for immediately and when they came he explained to them how he wanted to re-establish the decaying power of *Pattana* He extolled their honesty and their abilities and told them that a conqueror could never get peace of mind unless there be at the helm of administration really able and trustworthy men He congratulated himself on having found two such able ministers and them to take up the responsible duties *Vastupala* then humbly expressed his joy at having been so fortunate as to be held in such high estimation by the king He ventured however to state that hard times had come when bad counsellors led proud kings by dangerous ways till both came to grief Further he stated that if the king would promise to be just and to control his passions and not to lend his ear to the insinuations of wicked persons if he would promise to rescue the kingdom from the oppression of the wicked then he would cheerfully obey his command If he had other views in his mind the proud minister said he would bid him farewell The king heard these words of the celebrated statesman and put into his hands the minister s seal [1] The minister having taken charge of his duties went to *Stambhatirtha* modern *Khambayat* pronounced by Europeans as *Cambay* He redressed many of the wrongs committed by previous governors During his administration low people gave up earning money by base means the wicked turned pale the righteous prospered All honestly carried on their businesses in security He put an end to piracy and stopped by constructing platforms the promiscuous mingling[2] of all castes in shops where whey of curds was sold. He was liberal in his gifts Even those who had been long dead come under his obligation because he repaired the public works left behind by them He planted groves of trees sunk wells and made public parks dug tanks built a city and erected innumerable other works of public utility He made no difference of caste or creed but treated all subjects equally While peace was thus reigning all over the kingdom *Singhana* the king of the *Dekkan* having heard of the prosperity of Gujarat ordered his army to make a depredatory excursion into the province The whole of the population was seized by consternation The king s army though small was strong and the father and the son *Lavanaprasada* and *Viradhavala* dauntlessly went forth and met the enemy when he had advanced as far as *Bhrigukatchha* (*Bharucha* or *Broach*) While these two warriors were thus engaged four kings from Marwad seized the opportunity and advanced against them Indeed the condition of the father and

the son was critical with a powerful invader in the front, and a combination of four hostile kings in the rear, any other prince would have lost courage To add to the embarassment of his position, the kings of *Godraha* and *Lāṭa* allied themselves with the Marwad kings and seceded from the camp, and left these two to themselves But *Viradhavala* and *Lavaṇaprasāda* were equal to the occasion. They pursued with great vigour, at first, the army of the *Yadus*, but, when harassed in the rear by the combined kings, they turned their forces against them The southern army was so completely broken that it had not the courage to make any diversion again on the rear. While the king was thus engaged in a destructive war, *Śankha*, the son of *Sindhurāja*, sent an emissary to the minister, *Vastupāla* He extolled the bravery of *Śankha* as shown in his contest with *Yādavas* though unfortunately *Śankha* was taken prisoner in the contest Further, he stated that the town of *Stambhapura* was, by right of descent, his, as his ancestors had formerly held it. He also held out to him the hope of being made a governor of the town if he surrendered it to *Śankha*, and he ended by threatening him with an instant expedition Though *Vastupāla*'s feelings of hope, fear and justice were thus appealed to, he remained firm - He refused to surrender the town, and pleaded his king's right of conquest against the hereditary title of *Śankha*, and distinctly told him that he was quite ready to take the field if *Śankha* should have the audacity to declare war.

This defiance of *Vastupāla* swelled the tide of *Śankha's* anger, and he at once advanced to the side of a tank called *Vaṭakupa* (*Vadkuvo*) The minister defended with great bravery the town which he occupied After some time the minister attacked the position of *Śankha*, though his army was numerous When the battle commenced, *Bhuvanapāla* of the Gula family, on the side of the minister, assailed *Śankha*, who was also called *Sangrāmasimha*, but was himself attacked by *Sāmanta*, an ally of *Śankha* The two fought desperately, *Bhuvanapāla* slew *Sāmanta*, and proceeded against *Śankha Śankha* cut off his head in a single fight This sharpened the edge of the minister's anger The fight now became general, and several warriors were killed on each side At last *Śankha*, finding the minister invulnerable, withdrew his shattered forces, and retired from the field The minister led back his successful army, receiving congratulation of his subjects on the way. *Lāvaṇaprasāda* too, with his valiant son, returned to his capital, having repelled the southern invader on one side, and the combined forces of neighbouring princes on the other

In honour of this victory the citizens held a great festival to witness which and to make his obeisance to the goddess called *Ekallavīrā*, whose shrine was outside the town, the minister passed the principal street in the town The minister worshipped the goddess according to the proper ceremonies, and prayed to the goddess that she might always bless by her presence his own heart and his king's arm

The poet now proceeds to describe the sufferings and pleasures of the hot season, and the way in which the minister passed it–a noticeable fact, in which connexion is that a great part of the minister's leisure was spent in the company of literary men, among whom probably the author held a prominent position His gifts to these men are described as having been princely, and more than an adequate return for the pleasure which the men afforded to him The poet next proceeds to describe the evening and moonlight He employes the most fanciful

conceits in describing the pleasures of the citizens. Wine seems to have played a prominent part in helping the cause of Love. Giving for some time considerable freedom to his amorous muse, the poet winds up his account of revelry by a grand conceit describing the approach of dawn. As if to atone for the revelry of the previous canto, and by way of preparing the reader for his hero's pilgrimages, the poet introduces in the eighth canto a series of moral reflexions, which are very neatly and elegantly expressed. The canto concludes with a beautiful description of the beauties of autumn. The ninth and last canto is devoted to the description of the minister's visits to the holy shrines held in reverence by *Srāvakas*. One must keep before his mind's eye through how many different principalities of contending princes pilgrims had to pass, and how provinces were infested with marauding tribes, in order to be able to realize the importance which the poet attaches to the minister's having taken out with him a numerous band of fellow-pilgrims. In one of the *Prabandhas* the minister's retinue is described to have consisted of 4,500 carts, 700 palanquins, 700 carriages, 1,800 camels, 2,900 *Srīkarana*,[1] (?) 12,100 *Śvetāmbaras*, 1,100 *Digambaras*, 450 Jain singers, 3,300 bards. The author seems to have taken up for description, only two or three holy places visited by the minister. After mentioning generally that he made rich gifts to all shrines that he came across in his way, and made repairs and additions to temples, wells &c., where they were necessary, the poet proceeds to mention that he visited the shrine on the mountain of *Śatrunjaya*. He commemorated his visit to the holy mountain by building two temples–one for *Neminātha*, and another for *Pārśvanātha*. In the hall of this temple were placed the images of his ancestors and friends, and equestrian statues of himself and his brothers. From *Śatrunjaya* the minister proceeded to the mountain *Raivataka*, where he offered the best incenses to the shrine of *Nemināitha*, and having lived here for many days, he went to *Prabhāsa Pattana*, and then worshipped *Śiva*, known by the name of *Somanātha*. He took leave of the shrine of the great *Jina* at this place, and returned to his own city (*Pattana*). When he arrived there, he first paid his respects to his king, and then went to his own house Having thus completed his pilgrimage, he duly honoured the men who had accompanied him on his pilgrimage and sent them to their own places.

Here the poet's narration ends. It seems strange that the poet should have ommitted to mention the famous temples on mount Abu. It cannot be said that the Abu temples were built later, that is, after the date of the poem; for the inscriptions in the temples on *Śatrunjaya* bear the date 1288, *Samvat*, while those in the Abu temples are dated 1287 of the same era. The *Praśasti* on these temples is composed by the author of this poem, and therefore the omission of the mention of the famous work from this panegyric seems the more strange. The only explanation that suggests itself to me is that the poet could make room for the description of one temple only, and he chose the *Satraunjaya* temple, because the one on Mount Abu was built in the name of the wife and son of *Tejahpāla*, and may, in one sense, be regarded as a special work of *Tejahpāala*. It appears that *Someśvara*, though a friend of both the brothers, was a special favourite of *Vastupāla*. That is the only reason I can assign for no mention of the Abu temple being made in this poem.

---

1 May it mean a clerk ?

how the minister could do such a thing *Someśvara* offered to go and speak to *Vastupāla* The king consented *Someśvara* called upon *Vastupāla*, and explained to him how his rash act had roused all the *Jethuvās* *Vastupāla* said he was prepared for the worst, and did not care for his life *Someśvara* returned to the palace, and told *Visaladeva* that *Vastupāla* was prepared to die in defending himself He represented to the king how it would be noble to overlook one fault of a man who had rendered such singal services to the state He said that the minister's life was very valuable, and might be spared for some critical occasion The king relented. He asked *Someśvara* to bring *Vastupala* to the court He came, but fully armed for fight At his sight, the memory of all his obligations came to *Visala's* mind, and he humbly pacified his anger, behaving towards him with all the respect one would pay to his father He strongly censured *Simha* for having struck a servant of the *Śrāvaka* temple, and threatened to punish him severely Soon after this, the minister had an attack of fever In 1287 *Samvat*, when *Narachandrasūri* died, he had predicted that 1298 *Samvat* would be the minister's last year The year had come The minister made up his mind to go to *Satrunjaya* Before setting out on his last journey, he called the minister *Nagada*, and recommended the followers of the *Jaina* religion to his care The *Brahmana* minister promised to pay all respect to *Svetāmbaras*, and told the minister not to be anxious on that account *Vastupala* started to go to *Satrunjaya*, but became worse on the way, and died at the village of *Ankevalia* *Tejahpāla* and *Jayantasimha* the son of *Vastupala*, performed the obsequies on the *Satrunjaya* hill, and built a temple on the spot called *Svargarohanaprasada*

V

The *Jaina* accounts of these ministers are naturally more detailed and faithful. There are some facts given therein to which a *Brahmana* admirer has naturally not given prominence. It is stated in those accounts that *Vastupāla* and his brothers were the fruit of the second marriage of their mother. The statement runs as follows - In the city of *Pattana Haribhadrasūri* a *Jaina* priest, while preaching once, constantly looked at a young widow who was exceedingly beautiful, and whose name was *Kumaradevi* One *Aśvaraja* remarked this, and, after the *Purana* was over asked him the reason He replied that the widow was destined to be the mother of sons who would be like the sun and the moon of the *Jaina* religion, *Aśvaraja* on hearing this, went to the father of the widow and entered his service In time he succeeded in ingratiating himself in the favour of the widow and her father, and married her The prophesy was fulfilled, and he became the father of *Vastupala* and *Tejahpala* and several other children According to these accounts, when *Vastupala* and *Tejahpāla* took up the ministerial duties, they made a condition that, at the termination of their office they should be allowed to retire with all the property they possessed at the time when they entered upon their office The impulse which led to the building of these temples is said to have been given by *Anupama*, the wife of *Tejahpala* When the ministers found they had amassed a good deal of wealth, they began to think how they could keep it secure Once while engaged in this deliberation they did not notice that it was growing late, and that the time of the evening meal had nearly gone *Anupamā*, after sending servants to remind them several times, came to them, and making them

leave their deliberation, asked them what they were thinking about. When they explained their difficulty to her, she told them that the best way to dispose of their wealth was to keep it on the top of mountains in such a way that every body could see it, but none could misappropriate it. She explained her meaning by stating that it should be devoted to the building of temples on mount *Abu*, *Śatruñjaya* and *Girinār*. The ministers listened to her advice, and proceeded to execute the plan. The *Prabandhas* say that the work on mount *Abu* was progressing very slowly, and the ministers being dissatisfied with the men in charge, went to see the state of things for themselves. When they found it was too cold for the workmen to go and work, at the recommendation of *Anupamā*, they ordered that each workman should have provided for him a fire to warm himself with while he working, and that ready dinner should be provided for all the operatives in the evening.

The way in which *Vastupāla* and *Tejahpāla* became possessed of funds where with to raise these superstructures is, by the *Jaina* chroniclers, described as follows.- When *Vastupāla* was appointed governor of *Stambhatīrtha*, he found that a *Mohemedan* merchant, whose name was *Syed*, did not submit to his authority. He refused to see him and pay him homage, where upon *Vastupāla* declared hostilities with him. *Syed* called *Śankha* to his aid, *Vastupāla* defeated him in a battle, though his army was more numerous *Syed* was apprehended all his property was confiscated. When the victory and confiscation were reported to *Lavanaprasāda*, he ordered that all valuables should be credited to the account of the state. *Vastupāla* had reported that the merchant was so rich that even the dust in his house-धूलेषु (which probably meant trifling things) was of great worth. The prince assigned the 'dust' to *Vastupāla*. Shortly after this, some of the ships of *Syed* took fire, and, it is said, a large quantity of valuable metals was reduced to रेणु dust, which, by the king's order, became the property of *Vastupāla*.

In *Vastupāla charita* of *Harshagani*, it is mentioned that when they went to a place, in *Kathiavad*, called *Hadālaka* to bury under-ground the wealth they had obtained, they found, when they dug into the earth, an immense treasure. Some say they applied this to the building of temples and other public works by the advice of their mother. Others say that while the brothers were once consulting as to what they should do with their money, they heard a *Jaina* ascetic recite the following verse:-

[1]कोशं विकासय कुशेशय संश्रितालौ, प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ते ।
दोषोदये निबिडतारकरप्रतापे, ध्वान्तोदये तव समेष्यति कः समीपम् ॥

1. The meaning of the verse is not very clear I understand it as follows -Oh lotus, since it is the daytime, favourable to you, open your bud and show love towards the bee that seeks your resorts, at night who will come near you when it will be dark, or when the rays of the moon will inflict upon you severe pain.

Several words in this verse have a double meaning. In addition to the meaning assigned in the foregoing translation, कोशं means a treasure. संश्रितालौ means on the class of proteges. दोषोदये, when an accusation is brought, निबिडतारकरप्रतापे may mean when the oppression caused by the exactions of the king is great. Consequently, the verse suggests the idea that a man should open his treasure and be kind to the poor about him while his prosperity lasts. No one will come near him when he is in difficulty and harassed by the accusations and demands made by the king.

When they heard this verse, and revolved in their mind the double meaning it conveyed, they thought it was a providential warning expressly given to them and foreseeing the loss of royal favour, devoted their money to charitable purposes. It appears from the Prabandhas that *Vastupâla* associated very much with *Brâhman* Panditas. This brought on him the remonstrances of *Vijayasenasûri*, their father's priest, which, being strongly supported by their mother, made them turn the current of their charity more towards the *Jaina* religion.

The society of learned Hindoo Panditas is described as having affected *Vastupâla's* religious opinions to a very great extent. One of his *Jaina* biographers states that he had even put on the *Anantadoraka*.[1] *Vijayasenasûri*, who always used to complain of *Vastupâla's* Hindoo tendencies to his mother, pointed this out as a proof his assertion. This brought matters to a crisis. At the bidding of his mother *Vastupâla* cut off the *Anantadoraka* and began to abide strictly according to the advice of his hereditary religious teachers.

I shall briefly state here some of the important facts detailed in the *Chaturvinśatiprabandha* with regard to *Vastupala* and *Tejahpala* and their chiefs.

Soon after *Vîradhavala* and his minister *Tejahpala* had commenced their victorious career they went to *Vamanasthali* to conquer the ruler of the place. The two young Rajputs, named *Sangana* and *Chamunda* the brothers of *Jayataldevi* the wife of *Vîradhavala* refused to submit. *Jayataldevi* who knew the power of her husband, advised them to avert hostilities by making homage and rich presents to *Viradhavala* but the proud brothers would not listen. In the desperate fight which ensued *Viradhavala's* life was in imminent and both armies raised the cry of his being killed but all of a sudden *Viradhavala* appeared mounted on his famous horse *Uparavata* and accompanied by the follower of his army proceeded personally against *Sangana* and *Chamunda*. The two brothers manfully met him and both were slain. The wealth for which *Vamansthali* was celebrated the hoarded treasures of generations fell into the hands of the king.

Once three Rajaputs *Samantapala*, *Anangapala* and *Trilokasinha Bhayats* of the king of *Jabalipur* came and offered their services to *Viradhavala*. *Viradhavala* was pleased with their address and bravery but on being told that their terms were a lack of coins (*Dramma*) of *Lûnasapuri* told them that a thousand warriors could be maintained by that sum and that he had no need for their services. *Vastupala* and *Tejahpala* requested the king to secure their services stating as their reason that men were more valuable then money but the king paid no attention to the advice and dismissed them. The offended Rajaputs went to *Bhimasinha* the king of the sea coast town of *Bhadreśvara* with whom *Viradhavala* had already declared war on his having refused to render submission. *Bhimasinha* at once accepted their terms and entertained their services. At their instigation he sent a fresh defiance to *Viradhavala* and appointed *Panchagrama* as the place of the combat. The two ministers told the king that his enemy *Bhimasinha* had strengthened his hands by securing the services of the three Rajaputs but assured

1 *Anantadoraka* is a silk cord knotted in a prescribed way with certain spells pronounced over it. It is supposed to represent god *Vishnu*. The day fixed for its worship is the fourteenth of *Bhâdrapada*. The cord is kept on the arm by some during the whole year.

him, at the same-time, that they were still more than a match for *Bhīmasiṁha's* army, and that they should set out at once for the place appointed for the battle On the night before the battle the three Rajaputs sent a word to *Vīradhavala* that he should keep in readiness for his protection the numerous soldiers he had kept by the three lacks of coins which he had refused them The king politely replied that the next day's fighting would decide the question In the battle which ensued the three Rajaputs broke through all those that defended *Vīradhavala*, and pointed their spears at his forehead, but spared his life in consideration of the *Viḍā* they had eaten at his court However, *Vīradhavala* was thrown from his horse *Upāravala*, who was seized by the three Rajaputs The fighting for the day ceased, but *Vīradhavala* was none the worse for the casualties of the day The ministers of *Bhīmasiṁha* advised him to make peace *Bhīmasiṁha* sent back *Upāravala* to *Vīradhavala* Peace was made By and by *Vīradhavala* became more powerful, and having conquered *Bhīmsiṁha* destroyed his power

There was a king named *Ghughula*, who reigned at *Godraha* in the district of *Mahīlata* He seized the goods of the merchants who came to trade with Gujarat *Vastupāla* and *Tejaḥpāla* sent messengers to remonstrate with him, and advised him to abide by the commands of *Vīradhavala* *Ghughula* in return sent a box of eyewash and a pair of women's clothes to him, to show that he regarded him, along with other kings, as no better than his mistresses *Vīradhavala* called together his chiefs, and asked if any one would offer to undertake an expedition against *Ghughula* *Tejaḥpāla* alone offered to go He went and stationed his army at a distance from *Godraha* He detached a small number of soldiers to go into the proximity of the town and seize the cows of the cowherds When the cowherds came to the town to complain of it, *Ghughula* went at the head of a small force to punish the offenders The minister's soldiers feigning a flight, drew *Ghughula* towards the minister's army *Ghughula* did not perceive the manoeuvre until he came face to face with the minister's army Without losing courage, he sent a word to his chiefs to come to his succour, and commenced fighting at once He succeeded in dispersing the minister's army, but *Tejaḥpāla* with seven Rajaputs determined to conquer or to die, and held fast The example encouraged the worsted soldiers to return to the fight *Tejaḥpāla* forced his way up to *Ghughula* and challenged him to a duel The challenge was accepted The minister threw *Ghughula* from his horse, and took him alive He was confined in a wooden cage and sent to the king All his wealth was seized *Vīradhavala* caused the box of eyewash, which *Ghughula* had sent to be tied around his neck with a string, and he was made to wear the pair of clothes he had sent Unable to bear this disgrace *Ghughula* killed himself by biting off his tongue

Chaturaviṁśatiprabandha says that the victory over *Ghughula* enabled *Vastupāla* to extend the sway of *Vīradhavala* to the borders of *Mahārāshtra*

The same *Prabandha* also mentions that *Vastupāla* was directed to proceed against *Sultan*[1] *Moujadin*[2] Being forewarned that the army of the *Sultan* was going to enter by side of the *Abu*[3] mountain, he directed *Dhārāvarsha*, the king of

1 This word is Sanskritised and written as सुरत्राण
2 *Muizuddin Bahramshah*
3 The warning is said to be given by *Mahajanis*

Abu who owed allegiance to *Viradhavala*, to keep himself in a state of readiness He advised him to let the Mahomedans pass southwards, and then close the mountain passes against their return The plan succeeded The Mahomedans being attacked by *Vastupāla* in the front, and pressed by *Dhārāvarsha* in the rear, became panic-stricken The slaughter which ensued was great *Cart-loads of their* heads were sent to *Viradhavala* at *Dholka*

Some years after this the mother of *Moujadin* started on a pilgrimage to *Mecca* Having heard this news from his messengers, he ordered his sailors to take possession of all her property and bring the same to him *This being done*, the captain of the ships employed by Moujadin's mother came and complained to *Vastupāla* that pirates had robbed the property of an old Mahomedan lady, their passenger On their stating further that she was the mother of *Moujadin*, *Vastupāla* received her with the greatest respect, and feigning to have caught the pirates restored the property to her He showed her every mark of respect, and provided most carefully for her comfort and safety On her way back to *Delhi*, she insisted upon *Vastupala*'s accompanying her With the permission of *Viradhavala*, *Vastupāla* went to Delhi He was received there with great honour He obtained from the emperor a promise to keep friendship with *Viradhavala*, and, for himself, five large pieces of marble, of which he caused statues to be made to be placed in Jaina temples On his return *Viradhavala* received him with great pomp and distinction *Merutunga* in his *Prabandhachintamani* says it was not *Moujadin*'s mother, but his religious preceptor who led to the formation of friendship between him and *Viradhavala* Merutunga further says that *Vastupāla* saved the emperor's preceptor from the violence of the father and the son, *Lavanaprasada* and *Viradhavala*, as a sheep from two foxes Such are the principal facts which may be gathered from Jain compositions

It seems clear from the account given in this book and several inscriptions of the time that *Lavanaprasada* and *Viradhavala* though they had cast *Bhimadeva* into shade had not yet formally assumed the title of the kings of *Pattana* [1] As is often the case among the Hindus, those who actually attain high power by the strength of their arm rather take a pride in keeping formally their *former status* and rendering cheerfully, or even boastfully, submission to the hereditary monarch who has it no longer in his power to compel it by force It may well be illustrated by the attitude of the First Maratha conquerors towards the Emperor of *Delhi* and that of the *Peishwas* towards the *Mahārājās* of *Sattara* The *Peishwa* held a grand *Durbar* at *Poona* for the assumption of the title which *Sindia* had obtained for him *from the fallen emperor of Delhi* and no *Peishwa* ever assumed authority without going through the form of obtaining the robes of state from *Sattara* However, those who succeed these great men by right of birth have not got for their satisfaction the true glory of personal achievements, and they become impatient of the acknowledgment of fictitious subordination By this time the old dynasty also has generally lost its hold on the affections of the people and a *public* assumption of sovereign power by the new line does not give much offence to any

1 One of the *Prabandhas* says that *Vastupāla* proposed to *Viradhavala* that he should assume the title of *Mahārāja*, but *Viradhavala* did not approve of it He said he was contented with his title of *Rāṇaka*

one Thus, it would appear that *Visaladeva* put his foot on the step from which *Lavanaprasada* and *Viradhavala* kept themselves back half out of chivalry and half out of policy In the grant of *Visaladeva* the title *Maharajadhiraja* is applied to him though up to his time the kings of the house of *Pattana* alone were considered as entitled to it The last mention I have found of the king of *Pattana* is in connection with *Lavanaprasada* s having asked for money in a friendly manner from *Bhimadeva* There is no mention anywhere of any actual hostility between the house of *Dholka* and *Pattana* *Bhimadeva*, though personally valiant, seems to have allowed himself quietly to be superseded by his ambitious kinsmen first in actual power and then in rank

VI

In concluding this introduction it remains for me to acknowledge that the publication of this book is entirely due to Doctor G Buhler He lent me two manuscripts one A, a copy of some old manuscript made for him, and another B, which he had borrowed from Mr Javerilal Umiaśankara He also handed over to me a portion of the poem copied out by him for the press and obtained the permission of the Director of Public Instruction for the inclusion of this Publication in the Bombay Sanskrit Series Besides, I am indebted to him for pointing out most of the sources of information which I have embodied in these pages In fact but for him I should not have been able to do the little I have done For the third manuscript I got later on, I am indebted to Mr Vrajalal Shashtri of the Gujarat Vernacular Society All the three manuscripts seem to be copies of the same original manuscript the differences they show being generally due to the varying intelligence or rather ignorance of the copyists

GUJERAT COLLEGE,
21st September 1883

A V K

Professor G. BÜHLER's critical study of THE SUKRITASAMKIRTANA OF ARISIMHA

(TRANSLATED FROM THE GERMAN OF THE LATE PROFESSOR G. BÜHLER, C.I.E., LL.D., VIENNA BY E. H. BURGESS, UNDER THE DIRECTION OF JAS. BURGESS, C.I.E., LL.D.)

Published in the INDIAN ANTYQUARY, Vol. XXXI (1902) (Pp. 477-495)

[The paper, of which the following is a translation, appeared in the *Sitzungsberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol. CXIX., 1889), and some copies of it were struck off in a separate form, chiefly for distribution to friends. There are many scholars, both in Europe and India, who are interested in the subject of the paper but are not familiar with the German language, to them the following translation is offered in order to make its contents accessible.—J.B.]

In my *Report on the Search for Sanskrit* MSS., 1879-80, p. 5, I announced the discovery of *a historical poem* which bears the title *Sukṛitasaṁkīrtana*, and was composed by *Arisimha* in honour of his patron, the Jaina *Vastupāla*, who served the *Vāghelā* prince *Rānaka-Vīradhavala* of *Dholkā* and his son *Vīsaladeva* as minister from *Vikrama-Samvat 1276 to 1296 or 1297.* Although since then, by the publication of *Someśvara's Kīrtikaumudī*, the most important source concerning the origin of the power of the Vāghelā dynasty of Gujarāt, has become generally accessible, yet a discussion of the contents of *Arisimha's* poem will not be superfluous. *For this touches on several details about which Someśvara is silent,* and gives new and in part valuable accounts of other incidents. The manuscript which I have used for the following examination is No. 302 of my collection in the library of the India Office. This was copied in August 1880 from the same original in Ahmadābād from which No. 415 of the Dekhan College Collection of 1879-80 was taken; and it was then carefully collated with No. 411 of the Dekhan College Collection of 1880-81. It is therefore, — with the exception of the confusion between the sibilants, between *a* and *i*, *ra* and *ri*, as well as *ta* and *ṭha*, — pretty free from errors, and text is almost throughout *easily intelligible.*

THE CHARACTER AND ARRANGEMENT OF THE WORK

The *Sukṛitasaṁkīrtana* is, as the inscription of each canto intimates, a *Mahākāvya* or artistic poem, composed according to the rules of prosody, and it contains 11 Sargas with 553 verses. Five verses at the end of each Sarga are due not to Arisimha but to Amarapandita. It says, I. 46-- "In this work which *Arisimha* composed, *Amarapandita* wrote these four last verses canto by canto."† The number

† The German original is accompanied by the Sanskrit text of the passages that are translated in this paper.

refers to the preceding four verses 42 45 and the fifth which is repeated at the end of each Sarga is not reckoned These verses have no close connection with the contents of the preceding parts The first three either contain general praises and blessings upon Vastupala or mention incidents not described by Arisimha The fourth always names Arisimha as the author of the work and praises his poetic skill

The titles of *the separate cantos* are as follows

I — *Chapotkatanvayavarnana* Description of the Chapotkaṭa dynasty (of Gujarat), 46 verses principal metre Vasantatilaka

II — *Chaulukyanvayavarnana* Description of the Chaulukya dynasty (of Gujarat) 56 verses principal metre Upajati

III — *Mantriprakāśa* Appearance of the ministers, 67 verses principal metre Anushṭubh

IV — *Dharmopadeśana* Instruction in the holy law, 49 verses principal metre Rathoddhata

V — *Samghaprasthana* Departure of the (Jaina) congregation 55 verses principal metre Vamśastha

VI — *Suryodayavarnana* Description of the sunrise 40 verses principal metre Malini

VII — *Satrumjayadarśana* Visit to Śatrumjaya 48 verses principal metre Svagata

VIII — *Sri Nemidarśana* Visit to (the shrine of) the divine Neminatha 18 verses principal metre Pramitakshara

IX — *Shadritu varnana* Description of the six seasons of the year 56 verses principal metre Drutavilambita

X — *Purapraveśa* Entrance into the town (Dholkā) 47 verses the metres vary every two verses or still more frequently

XI — Enumeration of Vastupala s buildings 41 verses principal metre Vasantatilaka

Besides the metres already mentioned the following also occur in single verses Ārya Indravajra Upendravajra Pushpitagra Manjubhashini Mandakranta Śardula vikridita Śikharini and Sragdhara Amarapandita usually begins his first verse in the metre with which Arisimha ceases In spite of the pains both poets have taken with the versification it often happens that the first and third foot of a verse stop in the middle of a simple word And although the really distinguished poets often use the weak cæsura by ending the first *padas* of a half verse with one part of a compound yet they avoid dividing simple words This abuse first occurs in later poetasters The more difficult feats of art like Pratilomānuloma Gomutrika etc neither Arisimha nor Amarapandita has tried On the other hand there are numerous *anuprasas* or alliterations and — although more seldom — even *yamakas* or rhymes As for the diction one easily perceives the zealous striving to vary the turnings of the classical models and to find new expressions or figures The result is not a brilliant one however and the *Sukritasamkirtana* nowhere rises above the level of the mediocre At some points one may doubt whether the

He answered 'Om' Then the king said 'Recite something suitable to the occasion'. Thereupon Arisimha recited four verses in which he praised Visaladeva's sword The prince was so charmed that he bestowed a permanent appointment and a high salary upon the poet Soon afterwards the salary was doubled because he sang in a masterly manner of a blade of grass which the king held in his hand

Like the records of most of the *Prabandhas*, this one also contains, besides what is undoubtedly correct, much that is not so In the first place it is true that Amarachandra wrote a work called *Padmānanda* Peterson found it and bought it for the Bombay Government (see *First Report*, p 126, No 265) From the extracts given there from the Cambay Library MS, it appears that it bears also the title *Jinendracharita* and is a *Mahakavya* containing 12 Sargas (*cf* also Peterson, *loc cit* p 58)

The statement, then, that *Arisimha* was the teacher of *Amarachandra* in the fine arts agrees with the contents of the above second verse of the *Kavyakalpalata* The reverential way in which Amarachandra expresses himself in his verses about Arisimha speaks for the same thing

I 45 — "Arisimha, a lion for his elephant-like opponents composed this work, which like the glances of the ever-gracious Vastupala, dispenses rivers of nectar"

VIII 48 — "This work, a flood of beams from the moon of the face of Lavanyasimha's son, which draws off the swarms of bees from these waterlilies, the faces of the unworthy, produces, mighty waves in the milk-ocean of fame of the excellent minister and prince Vastupala [1]

Only a pupil speaking of his teacher, or a client of his patron, would express himself thus

On the other hand, the *Prabandha* is incorrect in stating that Amarapandita and, through him, Arisimha came to the court of Dholkā only during the reign of Visaladeva, circa Vikrama-Samvat 1296 to 1318 For soon after Visaladeva's accession *Vastupāla* lost his high position and died as Narachandra had prophesied, in the Vikrama year 1298 [2] From the *Sukṛtasamkirtana* it is apparent, however, that it was written when the minister was in the zenith of his power This is proved, for instance, by two verses at the end of the first and second cantos -

I 42 — "Daily, illustrious prince of the council Vastupala the Brahmanas cry blessings on you "Long may you live!' — the bard princes "May you attain the age of Brahma!"—and noble women "May you never grow old and be immortal!' But I will also say something "May you rejoice in your life as long as your far-reaching fame dances in the sky'

II 52—"Heavenly (wishing) cow, (paradise) trees, (wish-fulfilling) precious stones! Why hide ye yourselves in the tottering rocks of the divine mountain

1 The swarms of bees are the admirers who formerly hung upon the lips of the bad poets but now turn to Arisimha

2 *Kirtikaumudi* pp xviii xix *prabandhakoska* p 288 – *Śri Vastupālo gurvārugleśena podilastejaḥpālam sputrapadram svaputram cha jayan tasmhabhāshata*

Vatsah Śri Narachandrasūribhirmaladhāribhih 1987 varshe Bhādrapada Badi 10 aine diva gamanasamaye vajamuktah

Manirim 1268 svargārohaṇam bhavishyati I

(Meru)? Adorn the earth, nobody demands you! May the illustrious minister Vastupāla alone live for ever!"

It is hence certain that both poets stood in close relation to the minister who served Vīsaladeva's father, and their connection with him, according to the last verse, is scarcely doubtful For when an Indian poet praises the generosity of his hero in the above manner, it is a certain sign that he has either experienced the same or hopes to do so There are, however, a number of other passages which make it still clearer that Amarachandra and probably also Arisimha belonged to Vastupala's suite of poets which the *Prabandhas* often mention The next verse, II 54, ought to suffice to convince the most incredulous It says —" Poverty has resignedly deserted so completely those men who continually rejoice in praising Vastupāla that she, indolent in spite of the command of the gods, does not even cross the threshold of their neighbours' houses " That is to say, in simple prose, that the singer and other poets were well paid by *Vastupala* If one must accept from this that Rājaśekhara places the prime of Amarachandra and Arisimha too late,[1] it need not therefore be concluded that they had no connection with *Visaladeva* It is very possible that they kept themselves in favour at the Court of Dholka after Viradhavala's death and the fall of Vastupala

As *the exact date of composition of the poem* we need not be content to ascribe it merely in general to the period of Vikrama-Samvat 1276-1296 or 1297, during which Vastupāla occupied his high position It will be seen later, from the comparison of his statements concerning Vastupala's buildings with the inscriptions, that it was probably written about the Vikrama year 1285 It is probably some years younger than the *Kirtikaumudi* The *Sukritasamkirtana* seems never to have found much esteem even with the Jainas Neither Rājaśekhara in the *Prabandhakosha*, nor Jinaharsha in the *Vastupalacharita*, quotes it, although the latter gives long extracts from older sources Both follow Someśvara's *Kirtikaumudi*, the greater fame of which put the poem of the less distinguished Arisimha in the shade Its author Arisimha is perhaps mentioned in Sārngadhara's *Paddhati*, where a verse of a certain *Arasi-Thakkura* No. 76 (Peterson's edition), is mentioned Arasī stands for Arisi, and is a quite correct Prakrit form of Arisimha (see *Ueber das Nava-sāhasānkacharita* p 39), which is still frequently used in Gujarāt The identity of the two persons is, of course, by no means proved by the similarity of their names but is only a possibility

NOTES ON THE HISTORY OF THE CHAUDAS AND CHAULUKYAS

The first Sarga, which contains the genealogy of the Chāpotkata or Chaudā kings, gives the following names –

		Verses	
I — *Vanarāja*			1-26
II — *Yogarāja*	...	"	27-28
III — *Ratnāditya*	...	"	29-30
IV — *Vairisimha*		"	31-32
V — *Kshemarāja*		"	33 34
VI — *Chamunda*	...	"	35 36

1 As a further proof of this it may be mentioned that the Cambay MS of the *Vasantavilasa-Kāvya* was written in the Vikrama year 1297

VII — *Rahada*	..	Verses	37–38
VIII — *Bhūbhata*		,,	39–41

The verses dedicated to these kings contain almost nothing but conventional flatteries in which no historical events are mentioned *Vanaraja* and *Bhūbhata* are the only exceptions As regards the first, it is mentioned in verse 9 that he founded the city of *Anahilapātaka* or Anhilvad, and verse 10 that he built there the temple of Pañchāsara-Pārsvanatha Both statements are found in most of the later Jaina *Prabandhas*, and are therefore of no special interest On the other hand, the statement, verse 41, that *Bhūbhata* ruled the earth long, is of some significance and also the arrangement and number of the Chauda kings For both entirely disagree with the statements in Krishnāji s *Ratnamāla*, in some MSS of Merutunga's *Prabandhachintamani*,[1] and in later works, like Jinamandana's *Kumarapālacharita*, Jinaharsha's *Vastupālacharita*, and Dharmasagara s *Pravachanapariksha*

All these works recognise only seven instead of eight Chāudā kings, whose succession differs from the above, and they ascribe to the last a reign of only seven years On the other hand our list is almost identical with that contained in Merutunga s *Theravali*,[2] and in the Bombay edition of the *Prabandhachintamani*, pp 35-38 [3] In the *Therāvali* there are differences only with regard to the names of the seventh and eighth kings The former is called not *Rāhada*, but Thāghada or Ghāghada and the latter not *Bhubhata* but Puada Puada is doubtless a clerical error for Bhūyada or Bhuvada which is the usual Apabhramśa form for Bhubhaṭa in the *Prabandhas* Instead of Thaghada or Ghāghada, *Rāghada* is to be read, which may be the same as *Rahada* if the original form of the name be Raghavabhaṭa [4] The edition of the *Prabandhachintāmani* has the form Akada, which differs still more strongly On the other hand it gives for Bhubhaṭa the form *Bhūyada*,[5] which one expects

The reign of this last prince extended to 19 years according to the Therāvali, whilst the *Prabandhachintamani* edition gives even 27 The latter number would, of course, agree best with the expression *chiram*, ' long ' In comparison with the apparently more authentic traditions of Krishnaji (which moreover, have been printed from bad MSS) the statements of the *Theravali* have hitherto received no consideration The narrative of the seven Chāuḍa kings the last of whom is said to have been murdered after a seven years' reign by *Mūlaraja*, his sister s

---

1 Thus No 296 of my collection and Bhāu Dāji s MSS Jour *Bo Br R A Soc* Vol IX p 157

2 See *Jour Bo Br R A Soc loc cit*

3 The passage is in parenthesis in the edition Also the narrative which follows in the text shews that the MS which forms the groundwork differs considerably from the other known ones

4 It is quite possible to find for the seventh Chāudā king in the *Sukritasamkirtana* a name which comes very near the Ākada given in the published edition of the *Prabandhachintāmani* We can divide I 37 *prabalaśatrujalah śaśankaśnrāhur ahaḍa iti* by which means the form Āhaḍa is obtained This much may be said for this division that we gain thereby a construction exactly corresponding to that in verses 27 31 35 etc and also that the word Āhaḍa which might stand for the Sanskrit Āhavabhaṭa (compare Āhavamalla) would be quite a suitable epithet for a king Nevertheless I hold it probable that the name was Rāhaḍa for I do not believe that the poet would have lighted upon the alliteration *rahurāhaḍaḥ* if the name had not begun with *rā* Then the certainly corrupt forms Thāghada and Ghāghada tend to prove that the initial was a consonant

5 Or Bhūyagaḍa

son and of the Chaulukya prince *Rājī* is unhesitatingly accepted though it contains the absurdity of Rājī s marriage having taken place and his son having grown up within these seven years [1] It is plain from Arisimha s statements that the *Vicharaśreṇī* does not stand alone in its representations but rests upon older traditions Since Krishnāji s *Ratnamālā* is perhaps as old as the *Sukṛtasaṃkīrtana* the two contradictory accounts of the Chāuḍā kings existed at least in the thirteenth century and probably earlier still It must be left to the future to establish their real history when authentic documents are found For the present we must be content with the conclusion that the version current in India through Forbes s *Rās Mālā* has no particular claim to be received and was not uncontested in the tradition

The notes about *the Chaulukya kings* in Sarga II are considerably fuller Of the first king *Mūlarāja* it is related that he particularly venerated Somanatha and it is said verse 3 Which hero (Mūlarāja) plainly proving his veneration prostrated himself every Monday before Somanatha and obtained great splendour and fame from the hot flames out of the eye on the forehead of that god

Possibly Arisimha knew the absurd legend of the *Prabandhachintāmaṇi* p 43 according to which Mularaja made a pilgrimage every monday to Somanathapaṭṭana near Veraval until the god to please the king settled first nearer Anhilvād in *Mandali* or Mandal and at last came even into the capital Mularaja s worship of Śiva is proved besides by his presentation of land The following verse 4 seems to refer to the erection of the Tripurushaprasada in Anhilvad From among the military undertakings of Mularāja the victories over *Barapa* and *Laksha* king of Kachh are mentioned The former is made a general of the king of *Kanyakubja* Of the next king *Chamuṇḍa* vv 8 9 Arisimha has nothing positive to say On the other hand a victory of *Vallabharaja* over the king of Malva is celebrated in verse 13 and in verse 14 the remark is made that Vallabha had the *biruda* of *Jagajjhampana* which does not occur elsewhere The *Kirtikaumudi* which also mentions the probably apocryphal victory II 11 gives him the *biruda* of *Jagatkampana* It says of *Durlabharaja* vv 15 16 that he was very modest and was ashamed when his court poets compared him to Krishna In the *Kirtikaumudi* also Durlabha is praised for this virtue Of his successor *Bhima I* we are told only that he conquered the celebrated king *Bhoja* of Dhārā This statement agrees again with that of the *Kirtikaumudi* II 1 -1b and also with those of the later *Prabandhas* whilst it does not occur in Hemachandra s *Dvyaśrya* Bhima s son *Karna* vv 20 23 is praised for his beauty mentioned also by Hemachandra in the *Prasasti* to his Grammar verse 17 in the *Ratnamala* and in the *Kirtikaumudi* II 21 Then Arisimha states that Karna conquered the king of Malva and brought home from there a statue of *Nilakantha or Śiva* It says verse 23 Who (Karna) conquered the king of Malva with his army and truly brought with him Nilakantha the fame of him for whom the number of paths through the river on the head of this god was multiplied he extended in the three worlds

Most *Prabandhas* and even Hemachandra s *Dvyaśraya* mention no kings during *Karna s* reign The latest discoveries however shew that this silence is by no means justified Bilhana s drama *Karnasundari* which was found by Paṇḍit

1 I first drew attention to this atrocious nonsense in the *Indian Antiquary* Vol VI pp 181 182

Durgaprasad and published in the Bombay *Kavyamala* speaks of a fortunate war with the Muhammadan princes of Sindh and Ghazani Since Bilhana was in Anhilvad during Karna's reign, and probably made an unsuccessful attempt to become the court poet of that king, his statement deserves credit Then Someśvara Arisimha s contemporary, narrates in the *Surathotsava*,[1] found by Dr Bhandarkar that his ancestor *Ama*, house-priest of king Karna, compelled an evil spirit (*krtya*) raised by the house-priest of the king of Dhara to kill its originator The reason why the Paramara prince's priest sought to destory the Chaulukya ruler was that the latter had invaded the dominion of Malva Somesvara then without hesitation confirms Arisimha s assertion and we may accept it as a fact that the feud between Malvā and Gujarat did not rest during Karna s reign

Of *Jayasimha s* deeds it is related vv 23-38 that his cavalry bathed their horses in the Ganges (v 32), that the ' air walker *Barabaraka* carried him about in the atmosphere (v 33) that he took prisoner *Yaśovarman*, king of Dhara (v 34) that he had the tank called *Siddhasaras* dug (v 35) and a high pillar of victory (*kirtistambha*) built (v 37) All these points are sufficiently known It is only of interest that Barbaraka has here, as also in most of the other *Prabandhas* become a purely mythical being Verse 36 speaks of Jayasimha s worship of his mother, and alludes indeed to the narrative (*Prabandhachintamani*, p 13J) according to which the king at the request of Mayanalladevi remitted a tax imposed on pilgrims going to Somanathapattana by the officials at *Bahuloda*

Verses 39 43 referring to *Kumarpala* first praise the favouring of the Jaina religion by this king who abolished the confiscation of the goods of tradesmen dying without male heirs and caused *Viharas* to be built in every city [2] Then his victories over the *Jangaleśa* i e *Arnoraja* of *Sakambhari* or Sambhar and over the *Kaunkana emperor* i e the Kadamba king *Mallikarjuna* who ruled over the *Konkan* (*Kirtikaumudi* II 47 48) are celebrated With respect to the latter, Arisimha gives a note which contradicts Someśvara s reports but shows on the other hand that the representation of the later *Prabandhachintamani* is correct It says verse 43 What is wonderful in this strong one s (Kumarapala s) conquering even the Jangala princes seeing the ruler of the marshland the Kaunkana emperor, was defeated by his very tradesman (*banij*) ?

Someśvara in the *Kaumudi* ascribes both victories to the king himself in the *Praśasti* of Tejahpala s temple at Abu (vv 35-36) on the other hand the first is ascribed to the Paramara *Yaśodhavala* and the second to his son *Dharavarsha* Merutunga on the other hand records in the *Prabandhachintamani* p 201 ff that the Śrimāli Vania Amrabhata son of the counsellor Udayana [3] advanced twice against the king of the Konkan At first he suffered defeat but in the second campaign he is said to have slain Mallikarjuna

Kumarapala s successor is called in verse 44 Ajayadeva instead of *Ajayapala* This form of the name is also found elsewhere (see *Ueber das Leben des J M Hemachandra* S 55 note 6) Like all *Prabandhas* the *Sukritasamkirtana* mentions

1 *Report on the Search* etc 1883-84 p 20
2 See Bühler *Ueber das Leben des J M Hemachandra* Ss 39-40
3 See *Ueber das Leben des J M Hemachandra* S 9 and note 28

with praise that the king sent him as a tribute from *Sapâdalaksha* in Eastern Râjputana a golden *maṇḍapikâ* i e a little ornament in the form of a *maṇḍapa* or pillared hall Not less known is the victory which (v 46) Ajayadeva's son *Mûlarâja II* gained over the Turushkas i e over *Muhammad Shahâbuddin Ghori* The Muhammadan authors (see Elliot History Vol II p 294) confirm this information which is found also in the *Prithvirâjavijaya* (*Kasmir Report* pp 62 63)

Much more important is that part of the work (Sarga II 48 57 Sarga III, 1 62) which follows next relating to *Bhîmadeva II* representing his relation to *Lavaṇaprasâda* and his son *Vîradhavala* the Rana of Dholka and stating how *Vastupâla* became minister to the latter Arisimha gives an account here which differs markedly from Someśvara's narrative in the *Kîrtikaumudî* It will therefore be as well to give the most important verses of this part word for word

II 48 Now his (Mularaja's) brother, the illustrious *Bhîmadeva* whose invincible terrible arm like the post of a gate destroyed all his enemies wears amulet of the sphere for which the shores of the ocean furnish the pearls

49 His whole life long he held fast to the reflection This seat of the gods (Mount Meru) ought not to disappear through my liberality which lasts but for a moment and so he abstained from uprooting the golden mountain (Meru) in order to distribute gifts of gold

II 50 That beggars always experienced his liberality we hear from the songs of the pleasure seekers (nymphs) who settled in the neighbourhood of his palace on the gold mountains terraced for pleasure in the belief that these were spurs of Mount Meru

51 *Bhima* the husband of the earth whose entire riches had disappeared through continual and too liberal gifts whose brilliant glory had departed whose kingdom was bit by bit violently devoured by the barons —ate his inmost heart out in long accumulated cares

III 1 All at once the prince whose whole possessions had become small saw in a dream at the end of the night a glorious and splendid god

12 Thereupon the god poured upon the lord of the earth who was as it were the root of the creeper of his love the nectar waves of his eloquence as follows —

13 I thy grandfather[1] king *Kumârapâla* who have won the bliss of heaven through the laws of Arhat am come because I love thee in thy misfortune

14 Son I will give thee a proud governor of the kingdom through which thou obtainest great glory as fire does by wind

15 The great armed Arnoraja son of the illustrious *Dhavala* was an elephant in the forest of the *Chaulukya* stem an eagle for the serpents his enemies

16 This man of adventurous spirit who was the cause of my glory was made by me whose heart he won by his courage lord of the city of *Bhîmapalli*

1 If Kumârapâla calls himself Bhîma's grandfather the expression as is often the case with the indication of grades of relationship is very likely only indefinitely used For Kumârapâla was according to all the *Prabandhas* the great-uncle of Bhîma whose grandfather's name was Mahîpâla. (see Forbes's *Râs Mâlâ* p 151)

19 "When evil councellors opposed thee, this strong one made thy accession the means of repaying my favour for ever

20 "His son is *Lāvanyaprasāda*, whose arm, brandishing the sword — one would think it was his tongue — prepares to destroy his enemies in fight "

23 ' If thou make this ornament of the sphere lord of all (*sarveśvara*) thou wilt become the husband of Fortuna and rest in happiness like Vishnu in the Ocean

24 ' He has a son *Vīradhavala*, who for the sake of the battle wishes to perform again the oath of the descendant of Bhrigu (Paraśurama) to destroy the Kshatriya-race "

27 "Give this strong-armed one, whose shining toe-nails have become jewels on the heads of hostile kings, the rank of heir to the throne (*yauvarajya*), and thyself wilt rule yet a long time

28 "Still more! save thou the Jaina faith which helped me to attain unhindered to the fields of heaven, and which now almost sinks into the Kali-(period)"

29 When the king heard this, he embraced smiling the lotus-feet (of the god) as if he wished to hold in his hands the Fortuna that lives in the water-lilies

30 Honouring him graciously, the god, lovingly attached to him, laid his hand which resembled the Lotus, the house of the Kamalā, on his head

31 When in the morning the sound of the trumpet announced the sunrise to the ruler of the world, sleep, which closed his lotus-eyes, departed, like the night which closes the eye-like water-lilies

32 When the prince saw with astonished gaze the light of the lamps, (he said) 'There is indeed visibly a god!' and then quickly he left his bed

33 Then the husband of the earth who had accomplished the duties of the morning, visited his hall, whose thick buttresses of jewels streamed forth rich splendour.

35 The ruler caught sight of the devoted barons among the company, shining like sparks of their courage

36 The father and the son whom the god pointed out, the king anointed lords over all, with his eyes which were like nectar-jars

III 37 Thereupon the king directed joyfully this gracious speech before the nobles to *Lāvanyaprasāda* -

38 "Through thy father, the terror of his enemies I was set up (*as king*) in this kingdom do thou therefore increase my diminishing prosperity

39 "Accept from me, thou great in war, the rank of a lord over all, Vīradhavala, who shines in virtue shall be my successor "

40 Thus requested by the king, himself worthy to be entreated in a matter in which they ought to have been the suppliants, the two spake joyfully 'Your Majesty's command is law to us

41 Laying his hollow hands together as if he held in them the fluttering Butterfly (Fortuna), *Vīradhavala* turned again towards the husband of the earth (and said) -

42 "Master, I am in need of an adviser without one, the brave lion springs at the thunder-cloud, taking it for an elephant and suffers a great fall

83 "Give me such a counsellor, distinguished by extraordinary virtues, acquainted with the use of weapons, with books, with the acquisition of wealth and with battle "

44 Greatly delighted by this speech which was like a stream of nectar poured out to invigorate the liana—(creeper) of his happiness, the master of the world thought a little and then said

45 "Once upon a time was *Chandapa*, fiery in his splendour, a branch of the ever-fresh liana of fame of the distinguished *Prāgvāṭa* lineage, a servant (of the king) in this realm

47 "His son, named *Chandaprasada*, was furnished with skill and affability,....

49 "To him was born a son named *Soma*, who flooded the firmament with his glory.

50 "Who had no master but king *Siddha* and no god but the lord of the Jinas

51 "His descendant *Aśvarāja* made the universe splendid with his glory he who accomplished seven pilgrimages to escape the seven hells

53 "His beloved wife was *Kumāradevi*, who, though the first among the Jina-believing (women), worshipped the husband of Gauri

54 "To these two were born three sons, whose power made their enemies tremble ...

55 "First among them, *Malladeva* is famous a treasury of wisdom he who obtained autocracy in his kingdom by the will of his preceptor

56 "His younger brother is the wise *Vastupāla*, a dwelling-place of the fine arts, whose feet the later-born *Tejahpala* daily worhsips

57 "These two like wands to whirl about the ocean of deeds, like paths leading to conjunction with Fortuna I will give you for counsellors but they protect their friends "

58 As *Viradhavala* rejoiced at this speech, the husband of the earth called to these two sons of one mother who bowed their heads, (and said) –

59 "May you who alone have crossed the ocean of state affairs, be clothed with the dignity of counsellors of the great *Viradhavala*

60 "His courage will attain to sight if you serve him as eyes unceasingly vigilant may he trample down all my enemies

61 "Yet more—may you two, who hang on the feet of the Jina prince, like bees on a lotus, glorify the faith in the lord of the Jinas this great wish of king *Kumarapala*, which he entrusted to me in a vision, must of necessity be fulfilled "

62 When the king had given these instructions, to which a good invisible god called out his approval—falsely taken for the echo from the vault of the audience chamber, —he gave over the two to the heroic *Viradhavala* '

If we compare this narrative with that given concerning events by *Someśvara* in *the Kīrtikaumudi*, a considerable difference, especially in the rôle allotted to

Bhima II, is unmistakable According to Somesvara's representation, the Gūrjararājalakshmi, the Fortuna or protectress of the kings of Gujarat, appeared in a dream to Lavanaprasāda, the Rānā of Dholkā, and called upon him, with the help of his son, to save the kingdom which had fallen into decay in the unskilled hands of Bhima [1] Someśvara further states that he himself was called before Lavanaprasāda on the following morning and asked concerning the meaning of the vision He convinced his master, he assures us, that he was appointed by Providence to save his fatherland and induced him to obey the command of the goddess [2] Thereupon Lavanaprasāda entrusted to his son the execution of the duty laid upon him [3] A short time afterwards, Vastupāla and Tejahpāla were appointed his ministers '[4] If we reject the mythological additions in this record, which Someśvara, as a good court poet and artist, held himself bound to put in, it merely says that *Bhima* was a weak and unskilful ruler, and that *Lavanaprasāda* and *Viradhavala* made use of his weakness in order to found a kingdom of their own To this understanding we are led particularly by the circumstance, the Somesvara, in the description of the kings of Anhilvād, expresses himself by no means respectfully concerning Bhima II, when he says (*Kirtikaumudi*, II 61) "Powerful ministers and barons gradually divided the kingdom of this young and foolish (*balasya*) ruler,' and elsewhere again (*ibid* II 4) he gives the king the same not very complimentary epithet *bala* On the other hand, there is nowhere a question of Lavanaprasāda's service, and in the numerous inscriptions in the temples built by Vastupala and Tejahpāla on Girnār and Ābū, and in other places, any mention of the suzerain of Gujarāt is entirely wanting On the other hand in the Girnār inscriptions, which were written V S 1288, ten years before Bhima's death, *Viradhavala* receives the title of Mahārājādhiraja, as if he were an independent ruler Such a disregard of the forms which Indian etiquette prescribes for Vassal-princes and their servants, shews that *Bhima* did not stand in great esteem at the court of Dholkā, and that he was not powerful enough to force from Lavanaprasāda and Viradhavala the respect due to him In spite of this it was probable, before the discovery of the Sukritasamkirtana, that Someśvara s account did not quite correctly represent the true relation of his master to Bhima II For Merutunga says in the *Prabandhachintāmani*, p 250 (Bombay edition), quite clearly, — 'श्रीमद्भीमदेवराज्य चिन्ताकारि व्याघ्रपल्लीयसुतप्रसिद्ध श्रीमदानाकनन्दन श्रीलवणप्रसादश्चिरं राज्य चकार ।[5] — 'the administrator of the illustrious Bhimadeva, the illustrious Lavanaprasada, son of the illustrious Ānāka (Arnorāja) surnamed *Vāghrapalliya* (Vāghelā) ruled a long time' This note led me in my first discussion of Someśvara s works (*Indian Antiquary*, Vol VI 187 ff) to suppose that Lavanaprasāda was for a time in *Bhima* s service, and that he only later, — when Bhima s folly, to this day proverbial in Gujarat, his arrogance and extravagance, convinced him that there was no help for it, —

---

1 *Kirtikaumudi* II 89-107

2 *Kirtikaumudi* II 83-86 108-113

3 *Kirtikaumudi* II 114-115

4 *Kirtikaumudi* III 51 compare also II 112 where Someśvara accentuates to his lord the necessity of appointing capable advisers

5 The edition and Mss of my collection write evidently incorrectly *Vyāghrapalliyah Lavanaprasāda* is the reading of I O L. B S MS No 296 instead of the *Lavanaprasāda* of the published edition

undertook to found a kingdom of his own As the date of this defection I thought proper to fix the Vikrama year 1276, in which according to the Girnar inscriptions, *Vastupāla* was appointed minister Arisimha's account, which, coming from a contemporary, possesses as much authority as Someśvara s, confirms only a part of these suppositions, whilst he makes it necessary to modify another part of the same We learn from him that *Bhima II*, through his inability to keep the vassals in order and through various difficulties, was forced to seek help and support, and that he himself chose his relative The choice was prompted partly by Lavanaprasada s personal qualities, the description of which agrees with that of other sources partly through his father Arnoraja s having (v 18 above) already done important service to Kumarapala and having been helpful to Bhima himself in obtaining the throne (vv 19 and 38 above) The title *Sarveśvara* Lord over All which Lavanaprasada according to Arisimha s representation received has much the same meaning as Merutunga s expression *rajyachintakarin* and hints that Lavanaprasada s position was a very independent one The further statement that Viradhavala was at the same time named heir to the throne (*Yuvaraja*), takes for granted that Bhima had no sons Nor do the *Prabandhas* make any mention of such It must however, be remarked also that neither is Viradhavala s appointment anywhere mentioned In any case it remained without practical consequences, for Viradhavala died several years before Bhima Also in the statement that Bhima gave the brothers Vastupāla and Tejahpala to his Sarveśvara for counsellors Arisimha stands alone Someśvara says nothing particular at all as to how the two Jainas acquired their dignity In the third Sarga of the Kirtikaumudi he gives first a description of their genealogy which agrees with that given by Arisimha (vv 45 46 above) and adds (vv 51 and 52) that the two at once occurred to the prince who desired to win able men he considered their great qualities and then sent for them Further on his address and Vastupala s answer are given in full without however, affording any possibility of learning *anything from them of the earlier circumstances of the latter The later Prabandhas* Rajaśekhara s *Vastupālaprabandha* and Jinaharsha s *Vastupalacharita* state that the brothers had come accidentally to Dholkā on their return from a pilgrimage to Satrumjaya and were immediately engaged by Lavanaprasāda and Viradhavala who had just seen the supernatural appearance mentioned by Someśvara These Statements like a great deal more seem to be borrowed directly from the *Kirtikaumudi* and are hence of no value Someśvara s representation is however certainly defective for he leaves it uncertain how Vastupala and Tejahpāla had so distinguished themselves that Lavanaprasada could take them for suitable instruments for his plans On the other hand if one accepts as Arisimha hints (vv 57 and 59 above) that they had both been already in the royal service this difficulty disappears The probability of these statements is also supported by the circumstance mentioned by Someśvara (*Kirt* III 14) and by Arisimha (v 50 above) that their grandfather *Soma* had held a high position under Jayasimha In the case of the brothers having been in royal service however Bhima s consent was naturally necessary to their entering Lavanaprasada s service Thus we must declare Arisimha s account to be more worthy of credit We can only doubt whether Vastupala received his appointment at the same audience at which Lavanaprasāda was appointed *Sarveśvara* The date of the former event is fixed as already

mentioned, by the *Girnār inscriptions*, where it is repeatedly said that, from the (Vikrama) year (12)76, in Dholkā and other cities, he sealed "affairs with the seal."[1] The acceptance of Arisimha's statements makes it, of course, necessary to reject the suppositions expressed on a former occasion (*Indian Antiquary*, loc cit) that the appointment of Vastupala and Tejahpala marks the period when Lavanaprasāda deserted Bhima and began to found a kingdom of his own

The *new discoveries made since 1877* render it doubtful whether the *Sarvesvara* or his son ever was unfaithful to his master It appears rather as if *Lavanaprasāda*, in his relation to the latter, although he practically ruled independently over the southern part of the Gurjara kingdom, yet conducted himself at least outwardly as a vassal, and that Professor V A Kathvate is quite justified in comparing[2] his relation to Bhīma with that of the Maratha Peshvas to the court of Sātārā Of special significance for this point is the *Lekhapanchāsika*[3] discovered by Dr R. G Bhandarkar, which, as he correctly acknowledges, was composed in the Vikrama year 1288, that is, twelve years after Vastupāla s appointment as minister and during Bhima's reign. This little work gives formulæ for letters and documents of different kinds Among the latter there is a gift of land, dated V -S 1288 in which the *Mahamandalesvarādhipati*, 'the great overlord of the tributary princes,' Rāṇā Lāvanyaprasāda, is named as giver Befor his name stands the whole genealogy of the Chaulukya kings of Anhilvad, and it is remarked that, by the grace of his master Bhima II, he possessed the *Khetakahārapathaka* 'district of Kaira '[4] Then the same work contains, as an example of a state treaty, an agreement of the same date between the *Mahamandalesvara* Rana Lāvanyaprasada and Simhana (Singhana), the *Maharājadhiraja* of Devagiri, in which both contracting parties respectively promise to respect the other s boundaries, to keep peace and to help each other Although the first of these two documents is evidently nothing more than a formula, and of the second nothing can be certainly proved as to whether it is a copy of a real treaty, yet their value remains considerable Then, as the author of the *Lekhapanchāsika* was a contemporary of Lavanaprasada, we may take for granted that he describes the political relations in general correctly We may believe him on the one hand that in the Vikrama year 1288 Lavanaprasada was authorised to make treaties with foreign princes and consequently possessed a high degree of independence On the other hand we must admit that if Lavanaprasāda at that time made gifts of land he employed the form ordinarily used by tributary princes and acknowledgod the overlordship of Bhima If this be correct, there can be no question of a defection on the part of Lavanaprasada, at least until V -S 1288 The relation must rather have been as Arisimha gives it Lavanaprasāda stood higher than all other rulers of districts, and governed the kingdom of his master in the strength of the trust committed to him However free and high may

---

1 *Arch Reports of Western India* Vol II p 170 Vastupāla calls himself in this and in corresponding passages in other inscriptions *Sarveśvara* his brother on the other hand *Mahāmātya*

2 *Kirtikaumudi* p xxv

3 *Report on Search for Sanskrit MSS* 1882-83 p 28 ff and p 222 ff

4 This should be written p 223 for *kheṭakāhārāpathake* and p 224 for *kheṭakādhārāpathake* As in other passages of the formulary the expression is incorrect For *āhāra* originally corresponded approximately to the modern zillā and *pathaka* to *tālukā* Moreover similar combinations of the two expressions are found in real presentations of land in later times.

have been his position, he had not become a rebel The confirmation, which Arisimha's statements receive through the *Lekhapañchāśikā*, make it advisable, in the representation of this period of the history of Gujarāt to trust him more than the insinuations of Someśvara

In concluding the discussion of this part of the *Sukṛtasamkirtana, the mythological clothing* must still be mentioned In the treatise by Zachariae and myself on the *Navasahasankacharita*, p 46, I shewed that the court-poets often deemed it suitable, at crises in the history of their heroes, to make the gods actively interfere When Arisimha then makes the spirit of Kumarapāla descend from the fields of heaven to move Bhima to the appointment of Lavanaprasāda as his *Sarveśvara*, it is not difficult to see what moved him to make use of this *deus ex machina* Kumarapala was well known as the adherent and protector of the Jaina faith After his death a Brahman reaction took place under Ajayapala and though Ajayapāla reigned only a short time, the Jaina sect seems not to have regained its former importance under his sons Mularāja and Bhima II Only when Vastupāla and Tejahpāla became ministers in Dholkā did it again raise its head Both belonged to one Jaina family and were filled with great enthusiasm for their religion They spent a great part of their rich incomes on the erection of temples, asylums and benevolent institutions, so that at least the outward lustre of the Jainas was restored Arisimha tried to unite the two prosperous periods of his sect by representing Kumarapala as the intellectual originator of the second In doing so, he has not refrained from putting words into king Bhima's mouth which he certainly never spoke, when he makes him call upon Vastupāla and Tejahpāla (v. 61 above) 'to glorify the belief on the lord of the Jainas ' According to all we know of Bhima, he favoured exclusively the Brahmans, and especially the Śaivas, to whom he made many presents To excite Vastupāla s enthusiasm for his faith was, however, absolutely unnecessary

VASTUPĀLA S PILGRIMAGE TO ŚATRUMJAYA AND GIRNĀR

In the fourth Sarga Arisimha turns to the description of the *Sukṛita* of pious works of *Vastupala*, by which he adorned the *Jaina religion* First he mentions shortly that Viradhavala, with the help of his minister, soon 'conquered the ocean-girt earth and put down all wrong and violence (vv 1-7) Then he relates how in that happy time Tejahpala came to his brother, praised his successes, and advised him to keep in mind the king s command and support the Jaina religion (vv 8-13) Vastupala agreed and declared he would at once visit his spiritual director to hear his preaching and begin his works of piety according to his advice (vv 14-26) On this occasion the succession of the monks of *the Nagendra gachchha* is gone over, which, since the time of *Chandapa* had served the family as spiritual advisers The names are precisely the same as those in the *Praśasti* of Tejahpala's temple on Mount Abu[1] – (1) Mahendrasuri (vv 15 16) (2) Śāntisūri (vv 17-18) (3) (a) Ānandasuri and (b) Amarasuri (who received from king Jayasimha the title of honour *Vyāghraśiśukau*, the young tigers,' because even in early youth they were able to withstand proud disputants resembling fiery elephants (vv 19-21) (4) Haribhadrasuri (vv 22 23) and (5) *Vijayasena*

1 *Kirtikaumudi* App A pp 9-10

(Vastupāla's spiritual counsellor, vv. 24–26). Next we are told how Vastupāla went into the monastery with his brother and offered his homage to Vijayasena. The sermon following by the latter (which fills vv. 33-43) commends, as the most meritorious undertaking, a pilgrimage, and extols, as happy above all others the *samghādhipati*, the leader of pious pilgrims. The consequence is naturally that Vastupāla resolves to undertake a pilgrimage of the congregation to the holy places in Kāthiavad

The fifth Sarga then describes (vv. 1-6) the preparations for this journey. *Vastupala*, it says, sent letters to the believers in every town to invite them He visited personally the monks in the monasteries and invited them respectfully. For those who responded he cared in every way Whoever had no carriage, he gave him one, whoever wanted provisions for the journey, got them, and for those who had no servants he provided them Medicines and physicians also were not forgotten, so that those who sickened by the way might have assistance When all preparations were complete, he had himself solemnly consecrated by his Guru as *Samghādhipati*, and set out 'surrounded by a wonderful army of carriages' (vv. 7–8) In verses 10-13 the names of some distinguished monks who took part in the pilgrimage are mentioned — Narachandrasūri, Jinadattasuri of the Vāyaṭa gachcha, Sāntisuri of the Sanderaka gachcha, and Vardhamānasūri 'the sun of the Gallakas' In Kāsahrada, which is probably identical with the modern Kāsandra or Kāsandhra near Gāmph,[2] a halt was made, and (v. 16) a great festival was instituted in the temple of Ṛishabha Of other stations by the way nothing is said. The Sarga closes with the arrival of the pilgrims at the foot of Mount *Satrumjaya*, where Vastupāla pitched a great tent-camp (v 41) and distributed rich presents, especially of provisions, to all in want He cared not for himself, it says, until he had assured himself by means of his heralds that no one wanted anything.

After, in the sixth Sarga, a conventional description of sunrise, which in a *Mahākāvya* must not be wanting, there follows in the seventh the description of *the ascent of the mountain* and the festivities engaged in there : The ascent took place on the morning after the arrival The first shrine which the pilgrims reached was that of the Yaksha Kapardin (v 12) Vastupāla offered his homage and celebrated him in a song of praise (vv 13 16) Then he hastened to *the temple of Ādināth*a, whither the pilgrims followed him in crowds (v. 17) Still covered with the dust of the way, Vastupāla fell down outside before the lord of the Jainas (v. 26), and praised him in a hymn (vv. 27–33) Only then did he purify himself, the pilgrims following his example, and then he entered the Chaitya with them amid the performance of dances and songs (vv 34–37) Thereupon he washed the image, as the rule prescribed, with saffron-water, rubbed it with musk, and wreathed it with flowers The pilgrims burnt at the same time so much incense that the temple was wrapped in thick darknsss And at last the *ārātrika* was performed, numerous lamps being swung to and fro before the statue (vv 38-42)

2 Instead of *karada* tank *draha* occurs in the Prākṛit so that Kāsadraha would correspond exactly to the Sanskrit Kāsahrada The further corruption conforms to the rules of Gujarati phonetics Kasandra lies (see *Trig Surv Maps Guj Ser Nr 82*) in 72° 14 E long and 22° 19 N lat., pretty nearly on the direct route from Dholkā to Pāhtānā. In the text Kāsahrada is called a *pattana* 'a town The modern Kāsandra is a village of about 400 inhabitants.

The following verse 43 tells us that the stay on the mountain and the worship lasted eight days [1] Then the prince of counsellors, after bestowing rich gifts upon the monks, descended from Mount Śatrumjaya performed the auspicious ceremonies for the journey and longed to bring his homage to the divine Nemināthа on Girnar

According to Sarga VIII 1, the procession did not go directly to Junāgadh, but first to *Devapattana or Somanātha* on the south coast of Sorath 'There he, who possessed terrible power, worshipped the conqueror of Kama, the (god) characterised by the moon, he who is beautiful to look upon,' i e Śiva-Somanātha Soon, however, the ocean, 'pure through its shell mark and blue as the *indranila*-stone,' reminded Vastupāla, by these its qualities, of Neminātha (v 10) and drove him to go further Mount *Raivataka* (Girnar) came in sight, and it seemed to the minister as if the creepers of its woods swayed by the wind, performed a joyful dance in honour of the arrival of the holy congregation (v 11) This sight inspired Vastupala to a song of praise (vv 12-16) After his arrival he had a camp pitched at the foot of the mountain and celebrated the arrival by a festival On the next morning the pilgrims ascended Girnar (v 28) The description which now follows of the worship of Neminatha (vv 29 42) is only a repetition of the scenes in the temple of Ādinātha In conclusion, it says that the halt on Girnār lasted, like that on Śatrumjaya, eight days It is worthy of note that Vastupāla, on leaving, is said to have offered his homage to the Brahman gods Ambā, Sāmba, Pradyumna, and the rest, who had temples on the mountain

The ninth Sarga is like the sixth, a purely poetical addition without any historical element whatever It gives a description of the six seasons, which the prince of the wise, whose wishes were fulfilled, saw on the slopes of the mountain

The tenth Sarga is occupied with the return of the congregation from Girnār to Dholka Immediately after the descent Vastupala gave the pilgrims a magnificent banquet and distributed rich gifts among them (vv 1 3) Then he set out for *Vamanasthali* the modern Vanthlī on the way from Junagadh to Devapattna, and made a solemn entry into the town Formerly it was forbidden to Jaina pilgrims to enter the city Vastupāla, however, had 'the godless writing destroyed (v 6) Concerning the further course of the journey, all that is related is that in every village incense was offered to the Tirthamkaras (v 7) When the procession reached the neighbourhood of Dholka, not only Vastupāla's relations, but also Viradhavala, with the citizens, came out to meet him In the midst, between the Rāṇa and his brother Tejahpāla "like a Śiva represented in the manner of the Tripurushas (v 11) he entered the town amid the praises of the bards (vv 14-29) and the passionate expressions of joy of the women (vv. 30 42).

Vastupala s pilgrimage is mentioned in *the inscriptions* in his temple on Girnār as well as in Someśvara's *Kirtikaumudī* The inscriptions[2] state quite briefly that

---

1 This note found also in Jinaharsha s *Vastupālacharita* has a particular interest because Jaina pilgrims never pass the night on the mountain now

2 J Burgess *Archaeolog Survey of Western India* No 2–Memorandum of the Antiquities at Dabhoi etc. p 22 l 4 ff p 23 l 11 ff etc and *Arch Report Western India* Vol II p 170

सं० ७७ वर्षे श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्तप्रमुखमहातीर्थयात्रोत्सवप्रभावाविर्भूतश्रीमद्देवाधिदेवप्रसादासादितसंघाधि-

पत्येन श्रीवस्तुपालेन ।

The same date V S 1277 is rightly given by Merutunga in the *prabandhachintāmaṇi* p 254.

"Vastupāla, in the year 77 (V S 1277), attained the dignity of a Samghādhīpati or head of the congregation by the grace of the illustrious over-god of the gods, who, in consequence of the mighty working of the festive pilgrimage undertaken to Śatrumjaya Ujjayanta (Girnār) and other shrines, revealed himself" Someśvara, on the other hand, dedicates the whole of the last Sarga of his poem to the pilgrimage, and his description of it agrees on the whole with that given by Arisimha Yet there are the following differences The halt in Kāsahrada is not mentioned It is said on the other hand (*Kirt* IX 19,20), that the route followed by the minister could be traced by means of the restored old temples of the Jinas and the freshly dug tanks, as also that the pilgrims offered homage in all the temples to which the procession came On *Śatrumjaya*, Vastupāla stopped according to Someśvara (*Kirt* IX 36) only 'two or three days' In spite of this, it is said immediately before (IX 30-36) that he presented a flag of yellow-white stuff to the temple of *Ādinātha*, that he built two temples to *Neminatha* and *Pārśvanātha*, and had a large tank dug It is not doubtful that the last two notes refer to a later time Further on in the course of his report Someśvara (IX 66-69), places the visit to *Girnār* before that to *Devapattana* or *Prabhasa* (IX 70-71) He states also that Vastupala was 'many days' on Girnār, and that in Devapaṭṭana he worshipped, besides Śiva-Somanatha,[1] the Jaina Tīrthamkara Chandraprabhu Probably this contradiction is explained in that two visits to Devapaṭṭana took place Arisimha hints at this when he says the pilgrims went to Vāmanasthalī on their return-journey Vāmanasthali or Vanthli lies about nine miles south-west of Girnar and on the direct road to Devapaṭṭana Whoever travels by Vanthlī on the return from the Girnār cannot readily take any other way afterwards towards the mainland of Gujarāt than that which leads from Devapaṭṭana first along the south and then along the east coast of the peninsula This seems to have been in early times the ordinary route for caravans and pilgrimages [2]

VASTUPĀLA S BUILDINGS AND PIOUS INSTITUTIONS

The eleventh and last Sarga begins with the statement, that *Vastupāla*, after he was made lord of the town of *Stambhatīrtha* by Vīradhavala began to build temples (*kīrtanāni*) which resembled embodiments of his fame on earth, and in verses 2-31 forty-three buildings, restorations and institutions of different kinds are enumerated This list is much more modest than those which occur in the later *Prabandhas* of Rājaśekhara and Jinaharsha It contrasts also advantageously with the absurd boastfulness of the Girnār inscriptions, in which it is said[3] that Vastupāla and Tejahpāla caused new places of religion (*Dharmasthānāni*), i e temples, asylums abodes for the performance of perpetual vows, tanks and so on, to the number of ten millions (*koṭiśaḥ*) and also caused very many restorations to be made Arisimha gives the following details —

I — In *Anahilapurī* or *Anhilvāḍ-Pāṭan* —

1 The restoration of the temple of Pañcāsara-Pārśvanātha which Vanarāja

1 The worship of Śiva unfitting for a Jaina, is also admitted by Jinaharsha—I *Char* VI 535

2 In the *Vastupālacharita* VI 315 ff the way is more minutely described and the stations between Śatruñjaya and Girnār are (1) Tāladhvaja or Talāja, (2) Koṭināri or Koḍīnār (3) Deva-pattana and (4) Vāmanasthalī

3 *Arch Rep Western India* Vol II p 173 1 5 transcription

(p 65 above) had caused to be built (Ś XI 2) With this agrees Jinaharsha in the *Vastupālacharita* VII 66, where it is added that the building took place when Vastupāla visited Paṭan after a battle against the Muhammadans at Ābū, which he won by the help of Dhārāvarsha of Chandrāvatī Muhammadan authors mention nothing of attacks upon Gujarat in the first half of the 13th century At the same time it is possible that during or after Shamsuddin Altamsh's expedition against Ranthambor, A D 1226 [1] parts of the victorious army may have come as far as Ābu and attempted an invasion of Gujarāt If Jinaharsha's note be correct we may perhaps accept that the restoration of the temple in Anhilvāḍ took place in the year A D 1226 or 1227

II — In *Stambatirtha* or *Cambay* -

2 The erection of a golden *i e*, a gilded, flag staff and knob on the temple of Bhīmeśa (Ś XI 3) The *Vastupālacharita* (IV 720) gives the same note, and has, instead of the vague *ketu* (literally "banner"), the plainer expression *dhvajadanda*

3 The erection of an Uttanapaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head (Ś XI 4) The Vastupalacharita IV 719, speaks of an Uttānapāda (?) in the temple of Bhaṭṭāditya The technical meaning of Uttāṇapaṭṭa is unknown to me

4 The excavation of a well in the temple-grove (*pūjanavana*) called Vahaka of Bhattarka (Ś XI 5)

5 The erection of a *mandapa* or vestibule overlaid with stucco (*sudhāmadhura*) before the temple of the sun-god called Bakula (Ś XI 6) The *Vastupālacharita* (IV 721) speaks of a *rangamandapa* or painted vestibule before the temple of Bakulasvāmideva.

6 The restoration of the *mandapa* and of the temple of Śiva-Vaidyanātha (Ś XI 7) The *Vastupalacharita* (VI 718) says more plainly [2] ,—"The temple of the god Vaidyanātha, together with the *mandapa*, he made new again to the everlasting safety of his king"

7 The erection of high walled enclosures for the sale of sour milk (*takra*, Ś XI 8) Both Someśvara (*Kirt* IV 17) and Jinaharsha (*V Char* IV, 716) mention this The *uchchaihpada* or *vedībandha* must, as Prof A V Kathvate in the notes to the *Kirtikaumudi* says have been erected for the purpose of protecting the wares from contamination by people of low caste

8 9 The erection of two asylums (*upāśrayas*) for Jaina monks (Ś XI 9) Someśvara (*Kirt* IV 36) speaks of many *paushadhaśālās*, which Vastupāla caused to be erected in Cambay

10 The erection of a drinking hall with round windows (*gavāksha*) on two sides (Ś XI 10) Someśvara (*Kirt* IV 33) again speaks of many such

III —In *Dhavalakka* or *Dholkā* -

11 The building of a temple of Ādinātha (Ś XI 11) According to *V Char* III 457, this temple was called Śatrumjayāvatara

1 Elliot, *History of India* Vol II P 324

2 वैद्यनाथस्य देवस्य मन्दिरं मण्डपोत्तरम् । श्रेयसे निजभूभर्तुस्तेने येन पुनर्नवम् ॥

12–13. The erection of two asylums (*upāsrayas*) for Jaina monks (Ś. XI. 12).

14. The restoration of the temple named Rāṇaka of Bhaṭṭāraka (Śiva) (Ś. XI. 13).

15. The construction of a *vāpī* or a square covered water-reservoir (Ś. XI. 13).

16. The erection of a pump-room (*prapā*) (Ś. XI. 14).

IV. — At *Śatruṃjaya* near *Pālitānā* -

17. The erection of an *indramaṇḍapa* before the temple of Ādinātha (Ś. XI. 15); compare *V. Char.* VI. 630.

18–19. The erection of a temple of the Jina of Ujjayanta, *i.e.*, of Neminātha, and of a temple of the Jina of Stambhana, *i.e.*, of Pārśvanātha (Ś. XI. 16). Someśvara (*Kīrtikaumudī* IX. 31–33) and Jinaharsha (*V. Char.* VI. 631–632) also mention both temples, and the former calls the two Jinas by the usual names.

20. The erection of a statue of the goddess Sarasvatī (Ś. XI. 17). Neither Someśvara nor Jinaharsha mention this. It is, however, probable, for Vastupāla says, in the Girnār inscriptions,[1] that he erected in Girnār a *pratasthsahita-Kaśmīrāvatara-Sarasvatīmūrti*.

21. The erection of statues of his ancestors (Ś. XI. 18), compare also *Kīrtikaumudī*, IX. 34, and *V. Char.* VI. 633. According to the latter passage, these statues, as well as those named further on, were set up in the temple of Pārśvanātha. This statement agrees with the actual state of things found in Tejaḥpāla's temple on *Ābū*, where the statues stand in an annex (*balānaka*, *Kīrtikaumudī*, App. A., v. 61) to the right of the adytum.

22. The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejaḥpāla, and that of Vīradhavala (Ś. XI. 19). With this, Jinaharsha (*V. Char.* 633–634) agrees entirely. Someśvara (*Kīrtikaumudī*, IX. 35) says the three personages were on horseback, which is certainly a mistake.

23–26. The erection of sculptures representing the four mountain summits consecrated to Avalokanā, to Ambā, to Śāmba and to Pradyumna (Ś. XI. 20). Jinaharsha says (*V. Char.* VI. 631) that these sculptures were found in the above-mentioned temple of Neminātha.[2] The four peaks might be those of Mount Girnār, now named after Ambā, Gorakhnāth, Dattātreya, and Kālikā Mātā: compare also the Girnār inscriptions, *Arch. Sur. Rep. W. Ind. Loc. cit.* 1 6, and above p. 76.

27. The preparation of a *torana* before the temple of the Jinapati, *i.e.*, probably of Ādinātha (Ś. XI. 21). Jinaharsha (*V. Char.* VI. 629)[3] speaks of a *torana* over the western door of the *indramaṇḍapa*, which last stood before the temple of Ādinātha.

28–29. The erection of temples of Suvrata of Bhṛgupura or Broach and of Vīra of Satyapura or Sāchor (Ś. XI. 22).[4] Jinaharsha (*V. Char.* VI. 636–638) says the two temples stood right and left of the temple of Ādinātha, and that

1 *Arch. Report W. Ind., loc. cit.* 16.

2 [illegible]

3 [illegible]

4 Sāchor now belongs to Jodhpur in Rājputānā, and lies to the North-East of Tharād. It is still a holy place of the Jainas and famous for its temple. It is in 24° 11' N. lat., 71° 31' E. long.

the first was built for the welfare of Vastupāla s first wife Lalitadevī, and the other for the welfare of the second Saukhyalata or Sokhukā

30 The erection of a *prsthapatta* i e of a tablet behind the statue of Jina (Ādinatha?) of gold and precious stones which seemed to give the statue a halo (*bhāmandala*) (Ś XI 23)

31 The raising of a golden *torana* (Ś XI 24)[1]

V — In the neighbourhood of *Padaliptapura* or *Palitana* –

32 The excavation of a large tank (*sarah* Ś XI 26) mentioned also by Someśvara (*Kirtikaumudī* IX 36) and by Jinaharsha (*V Char* VI 677) In the latter passage it is added that the tank lay near Vagbhaṭapura the place built by Kumarapala s minister Vagbhata and bore the name of Lalitasarah in honour of Vastupala s first wife

33 The erection of an asylum (*upaśraya*) for Jaina monks (Ś XI 27)

34 Of a pump-room (*prapa* Ś XI 28)

VI — In the village of *Arkapalita* or *Ankavaliya*

35 The digging of a tank (*tadaga* Ś XI 29) Jinaharsha (*V Char* VI 690) adds that Vastupala had this tank dug for his own welfare According to the same author he erected in the same place a pump room for the benefit of his mother a *sattra* or alms house for the benefit of both his parents and further a temple of Śiva (*purabhido devasya*) and a rest house for travellers There are several villages in Kathiavad with the name of Ankavaliya Probably the one meant here is that which lies eastward from Bhimnath 71°59 [illegible] long and 22°15 N lat (Trigonometrical Survey Map Kath Ser No 14) on the river Lilka There is a large tank and the village lies on the old road from Dholka to Śatrumjaya

VII — On Mount *Ujjayanta* or *Girnar* –

36–37 The erection of two temples of Pārśvanatha of Stambhana and of Ādinatha of Śatrumjaya (Ś XI 30) These two temples are mentioned in the Girnār inscriptions (*Arch Rep W I* Vol II p 170 1 6) first among the buildings erected there Jinaharsha (*V Char* VI 695) speaks only of the temple of Ādinātha

VIII — In *Stambhana*[2]

[illegible] The restoration of the temple of Parśvanātha which was adorned with statues of Ādinatha and Neminatha (Ś XI 31) Jinaharsha says (*V Char* VI 518) that Vastupala deposited 1000 *dinaras* in the treasury of Parśvanatha for the purpose of the restoration not that he himself had it done

39 40 The erection of two pump-rooms (*prapa*) near the temple of Parśvanatha (Ś XI 32)

---

1 In verse [illegible] the author says that he would be able to describe all the buildings erected on the Śatrumjaya, [illegible] the creator had given him a place in the firmament like the teacher of the gods (the planet Jupiter)

2 This place lay as is often mentioned in the *Prabandhas* on the river Seḍhī or Shedhi and thus in the eastern part of the present collectorate of Khedā Peterson s identification of it with Stambhatirtha or Cambay (*Third Report* p 26) is untenable for the Shedhi is more than 30 miles distant from Cambay and Stambhana is named along with Stambhatirtha in the Girnār inscriptions [Stambhana [illegible] an old name for Thāmna on the Śeḍhī, 10 miles south west from Thāsrā in Ānand tāluka lat. 22° 43 N long 73° 9 E J B]

IX —In *Darbhavati* or *Dabhoi*

41-42. The placing of gold capitals on the temple of (Śiva) Vaidyanātha, because the old ones were carried off by the king of Mālava, and the erection of a statue of the sun-god (Ś XI 33) Jinaharsha mentions these (*V Char* III 371), but ascribes them to Tejahpāla

X — On Mount *Arbuda* or *Ābū* —

43 The building of a temple of Malladeva (by whom may be meant Mallideva or Mallinātha) for the benefit of his brother Malladeva (Ś XI 34) In the *V. Char* VIII-76, it is stated that the temple for the benefit of Māladeva was built on Śatrumjaya Since only one temple of Neminātha built by Tejahpāla, is found on Ābū, and its position makes it improbable that a second ever existed, the mistake may be on Arisimha's side

In this list of Vastupāla's buildings *the restorations of Brāhman temples*, as well as of the decoration of such buildings, have a special interest They prove, as does also his worship of Śiva-Somanātha in Devapattana (p 77 above), that he was no exclusive Jaina, but was rather lax in his religous views, and thereby confirm some hints in the later *Prabandhas* on this point (see *Kirtikaumudi* p xxii) The reasons for his lax view may have lain partly, as Professor A V Kathvate says, in the passage quoted in his familiar intercourse with the high priest Someśvara and other Brāhman savants but may partly be due to his position at the Brāhman court of Dholka The latter is hinted at by Jinaharsha also He adds apologetically, on mentioning the worship of Śiva-Somanātha in Devapattana, that Vastupāla performed this act to please his king [1] He also says further on, that the minister, 'at the command of his master,' prepared a *mundamālā*, or 'skull-chain' or 'tiara, adorned with rubies, for Śiva These well-authenticated pieces of information have their significance in the judgment of cases where something similar is stated of court Jainas, as, for instance, of Hemachandra,[2] in works less worthy of credit

The second interesting point in the catalogue is the mention of *only two temples on Girnar* This shews plainly that, the great threefold temple, which now forms the principal ornament of the mountain, was not yet finished, perhaps not yet begun The date of the six inscriptions, identical in their first parts, in the Vastupālavihāra, is Vikrama-Samvat 1288 Phālguna śudi 10, which according to Jacobi's calculation, *Indian Antiquary*, Vol XVII p 151 f, corresponds with the 3rd March A D 1232 The *Sukritasamkirtana* must therefore have been written before that time, and we must not put its authorship earlier than Vikrama-Samvat 1285 . From a comparison of the list of Vastupala's buildings in the Kirtikaumudi it is further clear that the latter work was written in a little earlier than the *Sukritisamkirtana* For in the *Kirtikaumudi* the buildings on Śatrumjaya are mentioned, but not two temples on Girnār

1 *V Char* VI 535-536 —

श्रीवीरधवलक्ष्मीशसन्तानोपहेतवे । सोमेश्वरं समानर्च मन्त्री नानाविधार्चनैः ॥ ५३५
नरेन्द्रादेशतो मन्त्री सोमनाथमहेशितुः । माणिक्यखचितां मुण्डमालामयमकारयत् ॥ ५३६

2 See *Ueber das Leben des Jaina-Mönches Hemachandra* S 27 f

NOTES ON VASTUPĀLA'S WARLIKE DEEDS

While Arisimha, true to his plan, sings only of the *sukrtas* — the pious deeds of Vastupala, Amarapandita endeavours to acquaint posterity also with the heroic deeds of his patron He evidently knows of only one, the victory of Vastupāla over *Samgramasimha*, the son of *Sindhuraja*, who seems to have been a petty vassal-prince or village chief in Vatakupa near Cambay, and over his ally *Śankha* He says, I 44 ' They call him a Jaina, but the illustrious minister Vastupala is devoted also to Śiva He washed the master who wears the form of air (*i e*, goes naked) with the water of shining fame which he took from *Śankha* " Further, VIII 46 "Thy sword illustrious Vastupala, beautiful in rising and brandishing valiant in deed, defeated in the world that *Samgramasimha* And X 45 ' Thy glory O Vastupāla, which shines by the victory over *Sindhurāja* is like the moon in the sky since the spot in it is certainly the face of Sindhurāja which was blackened by his deep shame '

Vastupala s feud with *Samgramasimha* and *Śankha* is related at length by Somesvara in the *Kirtikaumudi* IV V, and Someśvara also is unable to report any other warlike deed of his friend Since, then, we possess two eulogies, which, although otherwise independent of each other, mention only this one exploit, we may conclude that the accounts in the later *Prabandhas* of the numerous heroic deeds of Vastupala and Tejahpāla, in the beginning of their career, deserve on great confidence

In conclusion, it may be mentioned that Amarapandita twice addresses *Vastupāla* by the name of *Vasantapāla* This was his poet name, under which he wrote the *Naranārāyanānanda kavya*, which I found in Anhilvad in 1875 [1]

[1] A copy of the work is in the Deccan College Collection of 1875 77 No 131

INTRODUCTION

of the Sukritasamkirtana text by late Muniraja Shri Chauravijayaji Maharaja

साक्षाज्जिनाधिपतिधर्मनृपाङ्गरक्षो जागर्ति सच्चितमना भुवि वस्तुपालः ।

The Sukṛtasankīrtana is a historical Mahākāvya describing the good deeds of Vastupāla. It consists of eleven cantos and at the end of each conto are appended five verses composed by a Amara Pandita Three out of these are eulogistic, the fourth mentions Arisimha as the author of this work and praises his poetical skill, while the fifth records the fact that these four verses are composed by Amara

The popularity Of the work. The Sukṛtasankīrtana does not seem to have been popular even among the Jains Verses from Someśvara's Kīrtikaumudī are often found in the Prabandhakośa and Jinaharsha's Vastupālcharitra, but none from the Sukṛtasankīrtana. Bālachandra has also composed his Vaśantāvilas on the style of the Kīrtikaumudī

Literature about Vastupāla— The main works about Vastupāla's history are as under,—

Contemporary

I	Sukṛtasankīrtana	
II	Kīrtikaumudī	
III	Dharmābhyudaya	Udayaprabha
IV	Sukṛtakīrtikallolinī	Udayaprabha
V	Hammiramadamardana	Jayasimha Sūri.
VI	Vastupāla Tejahpāla Praśasti	Jayasimha Sūri.
VII	Vasantavilāsa by Bālchandra.	

Later

VIII	Vastupālaprabandha in the Prabandhachintāmani
IX	Vastupālaprabandha in the Chaturvimśatiprabandha
X	Vastupālacharitra of Jinaharsha

The author and his religion—The author of the Sukṛtasankīrtana is Arisimha, son of Lavanasimha He was a protege of Vastupāla and we understand from the Upadeśatarangini that like Someśvarsa, the author of the Kīrtikaumudī, he too got a *gras* and other gifts for this work[1]. It is not clear to what caste he belonged, whether he was a Bania or a bard He has got the appellation Ṭhakura and this appellation was common among the Banias too As to his religion, it is not quite certain whether he was a Jaina or a Shaiva The fact of his bringing the spirit of Kumārapāla and making him to order Bhima to revive the glory of Jainism speaks in favour of his being a Jaina, while his omission of salutation of Jina in the beginning of his poem and his telling us that Vastupāla's mother Kumāradevī, though a leader among those following Jainism, had faith in Śiva too, which is not mentioned by any other writer. mey lead one to believe that he was a Śaiva,

(1) स्वसङ्कीर्तनगुणकुलपूर्वजावदातप्रतिपादककीर्तिकौमुदीसुकृतसङ्कीर्तनकाव्यकृत्सोमेश्वरारिसिंहयोर्ग्रासग्रामाश्वदुकूलादि-दान यावज्जीवाहं दत्तम् ।

of course, not staunch Jahlana's Suktımuktāvalī quotes four verses of Arası Ṭhakkura,[2] who is most probably the same as our author

Amarachandra and his relation with Arisinha — Amarachandra is an illustrious figure in Sanskṛta literature. The fame of his works was not only restricted among the Jainas, but also extended to the Brahmins among whom his works Bālabhārata and Kavikalpalatā were popular His other available works are Chhandoratnavalı, Syādiśabdasamuchchaya and Padmānanda Kāvya The last work was composed at the request of Kosthāgārika Padma, a Vayada Bania of Pattan[3] It is otherwise known as Jinendracharitra, as it gives the lives of Tirthankaras The Prabandhakośa mentions two other works of his, Sūktāvalī and Kalākalāpa He compared in one place in his Balabhārata the braid (वेणी) to a sword and for this he was known as Venıkṛpāna Amara Amara was the pupil of Jinadatta Sūri of Vāyaḍagachchha the author of the Vivekavilāsa Jinadatta Sūri s name is mentioned in this poem among the Āchāryas who accompanied in Vastupal's pilgrimage Śatruñjaya The Prabandhakośa tells us that Amarachandra got the charm of Siddhasārasvata from Kavirāja Arisimha, pupil of Jinadatta Sūri and by his chanting this for twenty one days the Goddess of Learning appeared before him from the disc of the moon at the midnight of the twenty-first day and gave him the boon that he would be a Siddha Kavi, honoured by all kings The same Prabandha describes his entry into the court of Visaladeva and through him of his teacher in fine arts, Arisimha But the Prabandhachintāmani tells us that Amarachandra had entered the court of Dholka in the time of Vastupāla and was recognised as a poet of power and note Amarachandra does not mention in any of his published works that he was a pupil of Arisimha in fine arts but it is only clear from the works that he held Arisimha and his poetry in high esteem The story about Amara's getting Siddhasārasvata charm from Arisimha and also his introduction of Arisimha into the court of Visaladeva should be accepted with much reserve One thing is, however, clear from this that both Amara and Arisimha occupied a remarkable position in the literary court of Visaladeva Just as Amarachandra had composed four verses in the Sukṛtasankīrtana, so the Sūtras of Kavikalpalatā of Amarachandra were composed partly by Arisimha and partly by

(2) अतिविपुलं कुचयुगलं रहसि करैरामृशन्मुहुर्लक्ष्म्याः ।
तदपहृतनिजहृदय जयति हरिर्मृग्यमाण इव ॥
मध्येन तनुमध्या त्रिजगति कृशाङ्ग्या पञ्चानन काननमदृश्याम ।
तस्याः स्तनस्तम्भनदीधितिरेव कुम्भौ गजानां कुपितो भिनत्ति ॥
दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भादयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता ।
भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाणश्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति ॥
कान्ताऽस्पर्शद्रवमत्या कथमपि गमितान्यनरागैर्यमस्या
व्युत्क्रीयोक्षीव भूयस्तदनिमदनिनामेव तेन्य धयन्ते ।
इत्थं त्वद्वैरिनारी गिरिषु नरपते । जन्तुसन्तीवदृश्व
भ्रान्त्या भ्रुकुञ्जुसुक्तौ नयनति पुनर्भाषित षट्पदानाम् ॥
Jahlaṇa's Sūktımuktāvalī

(3) पद्मनाम्नार्थितेन मे श्रीजिनेन्द्रचरिताद्भुतम् ।
वात्सहायो महाकाव्यं निममे निर्ममेश्वर ॥ पद्मानन्द १-४१

Amara[1] Amarachandra mentions in his Kavikalpalata one more work of Arisimha, Kavitarahasya Amarchandra calls Arisimha in the Sukrtasankirtana as an able disputant

Analysis of the work.— The *first* canto gives the genealogy of the Chāpotkaṭa kings Of Vanarāja it is said that he founded the city of Anahilla Pattana and that he erected there the temple of Panchāsara Parśvanātha

After him Yogarāja, Ratnaditya, Vairisimha, Kshemaraja, Chāmunda, Rābada & Bhūbhata successively ruled over Gujarat This list of Chavda kings is identical with that given in the Sukrtakirtikallolinī of Udayaprabha In view of the concurrence of these two authorities the statement in Krishnaji s Ratnamāla, which is not so old as is believed is unreliable

The *second* canto describes the reigns of the Chaulukya kings Mulrāja's pilgrimage to Someśvara every Monday is also mentioned in Bālachandra's Vasantavilāsa The fourth verse refers to his erection of Tripurusha Prasāda in Anahillavāda Mularaja defeated Barapa the general of the king of Kanyakubja, and Laksha, king of Cutch Vallabharāja's victory over the king of Malva is celebrated in verse 13th He had the *biruda* of Jagajzampana This *biruda* is found in the Kumarapālapratibodha, Kirtikaumudi, Sukrtakirtikallolini and Vasantavilasa ; Durlabharāja was very modest and was ashamed when his court poets compared him to Krishna Bhima defeated Bhoja of Dharā Karna conquered the king of Mālvā and brought home from there an image of Nilakantha Śiva, Jayasimha conquered Barbaraka and took prisoner Yaśovarma, king of Dhara He had the tank called Siddhasaras dug and a high pillar of victory built Jayasimha was very devotional towards his mother Kumārapāla abolished the confiscation of the property of tradesmen dying without male heirs and caused Jaina temples to be built in every city He conquered the king of Jangla Arnorāja of Śākambharī, and his general Āmbada who was a Bania, defeated and killed the Kadamba king Mallika Arjuna of the Konkaṇa This victory of Āmbada is coroborated by Bālchandra in his Vasantavilasa Ajayadeva generally called Ajayapāla got from the king of Śambhara a golden Mandapikā Mularāja II, though a child defeated the Turushkas, Mahamad Sihabuddin Ghori Bhimadeva II was very charitable and extravagant His kingdom was being devoured by his powerful Manḍalesas, whom he was unable to control Bhima was thus filled with anxiety about the fate of his kingom One night a glorious and splendid god the spirit of his grandfather Kumārapala appeared to him in a dream and said that in order to restore order and to prevent dismemberment of the kingdom and to save the Jain faith which was almost sinking, he should make Lavaṇaprasāda son of Arṇorāja, son of Dhavala, to whom he had given the principality of Bhimapallī his Sarveśvara and make his son Viradhavala his Yuvaraja Viradhavala then requested king Bhima to give him good counsellors Bhima said that there served in this realm, Chanḍapa fiery in splendour, of the Porvāda lineage His son was Chanḍaprasāda His son Soma, who served under Jayasimha ; acknowledged no master but king Siddharāja

(1) सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दोर्मत्वाऽरिसिंहसुकवेः कवितारहस्यम् ।
किंचिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किंचिद् व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम् ॥
काव्यकल्पलतावृत्ति I-I ।

Jayasimha and no god but the lord of the Jinas His son Aśvarāja who made the universe splendid with his glory made seven pilgrimages in order to escape seven hells His wife Kumāradevi though eminent in the Jaina religion also had faith in Śiva They had three sons–Malladeva Vastupāla and Tejahpala Bhīma then gave Vastupala and Tejahpala as Virādhavala's counsellors and said to him that his heroism which will have sight with these two as eyes may now trample down his enemies by searching them out The two ministers should fulfil also the massage of Kumārapala–the glorification of the Jaina faith This account though it materially differs from that given by Someśvara in this Kīrtikaumudī agrees with that in the two other contemporary works (1) Jayasimha's Vastupāla Tejahpalapraśasti and (2) Udayaprabha's Sukṛtakīrtikallolinī Vastupala's own words should have, however more weight in this respect In the Naranarāyaṇānanda he calls himself as the high minister of the Gurjareśvara and in its last canto he says that he accepted the dependence of the high ministership of Bhīma the lord of Gujarat for the incessant occurence of the festival of faith without any obstacle which is sweet on account of its splendid power [1] Bālchandra's account however agrees with that of Someśvara

In the *fourth* canto Arisimha says that Vīradhavala with the help of his ministers conquered the earth and put down all wrong and violence Tejahpāla then requested Vastupāla to keep in mind the king's command and support the Jaina religion Both approached their spiritual family preceptor Vijayasena Sūri of the Nagendragachchha On this occasion the succession of the priest of this gachchha is given (1) Mahendra Sūri (2) Shānti Suri and Amara Suri who received from king Jayasimha the title– Tiger Cubs as they had overcome proud disputants even in their infancy (4) Haribhadra Suri (5) Vijayasena Suri Vijayasena Sūri explained to them the religious merits of becoming a Sanghādhipati Vastupāla resolved to do so

In the *fifth* canto are described the preparations for the great pilgrimage Narachandra Suri of the Maladhāri gachchha and spiritual adviser of Vāstupāla on his mother's side, Jina datta Suri of the Vāyada gachchha Śānti Sūri of the Sanderaka gachchha and Vardhamāna Suri of the Gallaka people were among the notable Āchāryas who accompanied Mention is made of a halt at Kāsahrada in Jeera Kāsandra and of the institution of a great festival in the temple of Rishabha

In the *sixth* canto we have a conventional description of the sun rise

In the *seventh* canto is described the ascent of the mountain and the devotional festivities After paying his respects to Kapardi Yaksha the presiding deity of the Tirtha Vastupāla entered the main temple of Ādinātha The Sangha stayed on the mountain for eight days

In the *eighth* the pilgrimage to Deva pattana and Mount Girnar is described From Santrunjaya the Sangha started to Devapattana for offering worship to Somanātha Thence it proceeded to Girnar A camp was pitched at the foot of the mountain and a festival was held Then follows the description of the worship of Neminātha and the festivals Having paid homage to Ambā, the presiding deity of the Jain temples on Mt Girnar and Samba and Pradyumna who had obtained salvation here the Sangha descended after a stay of eight days

(1) [illegible]
[illegible] XV 135

In the *ninth* is given a poetical description of the six seasons which the minister saw while descending.

In the *tenth* begins the return journey. The Sangha entered Vāmanasthalī—the modern Vanthali, in all magnificence. When the procession reached near Dholka, not only Tejahpāla but Vīradhavala came out with citizens to receive him. For a fuller description of the pilgrimage compare the last canto of the Dharmābhyudaya and the cantos eleven and twelve of the Vasantavilāsa.

In the *eleventh* canto the author describes the temples built and restored by Vastupāla.

In Anahilavāda Pattan:-

(1) The restoration of the temple of Panchāsara Pārśvanātha of Vanarāja.

In Cambay:-

(2) The erection of a golden staff and knob on the temple of Bhīmeśa.

(3) The erection of an Uttānapaṭṭa before Bhaṭṭāditya and of a golden wreath on his head.

(4) Excavation of a well in the temple grove called Vahaka of Bhaṭṭārka.

(5) The erection of a vestibule before the temple of the Sun-god Bakula.

(6) The restoration of the Maṇḍapa and of the temple of Vaidyanātha.

(7) The erection of high-walled enclosures for the sale of sour milk to avoid contamination.

(8) The erection of two Upāśrayas.

(9) The erection of a drinking hall with round windows on two sides.

In Dholka:-

(10) The Building of a temple of Ādinātha.

(11) The erection of two Upāśrayas.

(12) The restoration of the temple named Rāṇaka of Bhaṭṭārka.

(13) The construction of a Vāpī.

(14) The erection of a Prapā.

On the Śatruñjaya Hill:-

(15) The erection of an Indramaṇḍapa before the temple of Ādinātha.

(16) The erection of the temples of Neminātha and Stambhana Pārśvanātha.

(17) The erection of a statue of the Goddess of Sarasvatī

(18) The erection of the statues of his ancestors.

(19) The setting up of three statues on elephants, his own, that of Tejahpāla and that of Vīradhavala.

(20) The erection of sculptures representing four summits of Mt. Girnar, Avalokana, Ambā, Sāmba, and Pradyumna.

(21) The preparation of a Toraṇa before the temple of Ādinātha.

(22) The erection of temples of Suvrata of Broach and Mahāvīra of Sāchor.

(23) The erection of a Pṛṣṭhapaṭṭa of gold and precious stones below the image of Ādinātha

(24) The raising of a golden Toraṇa

In the vicinity of Pālitaṇā

(25) The excavation of a large tank

(26) The erection of an Upāsraya

(27) The erection of a Prapā

In the village of Ānkevaliyā

(28) The digging of a tank

On Mt Girnar –

(29) The erection of temples of Stambhana Parśvanātha and Adīśvara of Śatruñjaya

In Stambhana (Thamna near Umreth) –

(30) The restoration of the temple of Parśvanātha.

(31) The erection of two Prapās near the temple of Parsvanātha

At Dabhoi

(32) The placing of golden capitals on the temple of Vaidyanatha as the old ones were carried off by the king of Malva and also the erection of an image of the Sun god

On Mount Abu –

(33) The building of a niche of Mallideva (in Samvat 1278) for the religious merits of the spirit of his elder brother Malladeva

For fuller and more complete list of Vastupala's temples and works of piety public utility the reader is referred to Jinaharsha's Vastupalacharitra

The date of the composition of the work – The Sukṛtasankirtana was written before Samvat 1287 in which year the incriptions on Mt Abu are dated and after 1278 the date of building a niche of Mallinātha on Mt Abu mentioned in the present work

Dr Buhler contributed a very valuable and exhaustive paper *Das Sukrita samkirtana* in the *Sitzungberichte* of the Imperial Academy of Sciences of Vienna (Vol CXIX 1887) and an English traslation of the German paper was published in the Indian Antiquary Vol XXXI (1902) pp 477–495 For a complete and critical study of the career of this one of the greatest minister Gujarat has ever produced one should *read the introductions of the* Naranarāyaṇānanda *Vasantavilasa and* Hammiramadamardana in the Gaekwad's Oriental Series A photo of the statutes Vastupala and his two wives will be found in the edition of the Naranārāyaṇānanda in the same series

कीर्तिकौमुदी-सुकृतसंकीर्तनमहाकाव्ययोर्विशिष्टनामानुक्रमः ।

★

द्वितीय परिशिष्ट ।



श्रीअरिसिंहविरचितं

सुकृतसंकीर्त्तनमहाकाव्यम् ।



[पृष्ठाङ्क ९८-१३६]

विषयानुक्रमः ।

प्रथमः सर्गः ।

वनराजः

श्रीवेश्मविस्मयमयप्रबलप्रतापश्चापोत्कटः स्वयमनेकहरिर्नरेन्द्रः ।
आसीदसीमचरितः परितप्तशत्रुभार्यार्पिताङ्घ्रिनलिनो वनराजदेवः ॥ १ ॥

यत्खड्गखण्डितविरोधिशिरोऽधिरक्तस्रोतस्विनीभिरदधिर्विदधे सराग ।
येनाऽधुनाऽप्यरुणता भजतस्तदङ्गसम्पर्कतोऽर्कशशिनावुदयक्षणेषु ॥ २ ॥

निर्गत्य कोशकुहरादसिदन्दशूकः, श्यामो यथागतमगात् त्वरितं यदीयः ।
एतेषु मा स्म निगदेय परैरितीव, रन्ध्रेषु वस्त्रविवरेषु कराङ्गुलीभि ॥ ३ ॥

खट्वाङ्गसङ्गतकरस्तरवारिलग्नकृत्तारिमुण्डमिषतः समराङ्गणे य ।
भालाधिरोपितहुताशनचण्डचक्षुराभाद्विभासुरविरोधिविभासुरश्री ॥ ४ ॥

तेनं कृतान्तसमता रसनासनाभि धारोद्धुरो यदसिरञ्जनमञ्जुलश्री ।
अहाय यस्य युधि दर्शनसंज्ञयैव, भिन्दन्नरीनधित किङ्करता कृतान्त ॥ ५ ॥

स्तम्भप्रकम्पितविलीनविवर्णगात्रै, खिन्नैर्विभङ्गुरस्वरस्फुरदश्रुलेशम् ।
उन्मुच्य पौरुषमवाप्य च भीरुभाव, य सेव्यते रिपुभिरुत्पुलकैः प्रसन्न ॥ ६ ॥

आकर्ण्य तूर्णमुपकर्णयितु च यस्य, कीर्तिं मुहुर्भुजगभीरुगणेन गीताम् ।
चक्षुःश्रवा रसवशेन दृशा निमेषोन्मेषक्रियामनिमिषोऽपि चकार शेष ॥ ७ ॥

वक्रीकृते धनुषि मौक्तिकताडपत्रज्योत्स्नाम्बुभारभृति पञ्चलता दधाने ।
यस्याऽऽनन विकचवारिजकम्पमन्तर्भेजे विहाय पराजकरान् जयश्री ॥ ८ ॥

श्रीमत् पुर भुवि पुरन्दरपत्तनाभ, तेनाऽऽदधेऽणहिलपाटकनामधेयम् ।
लीला मुखे स्मरतपस्विवनेऽजनीन्दुपद्मश्रियोरसुहृदोरपि यत्र योग ॥ ९ ॥

अन्तर्वसद्धनजनाद्भुतभारतो भूर्मा भ्रस्यतादिति भृश वनराजदेवः ।
पञ्चासराह्वनवपार्श्वजिनेशवेश्मव्याजादिह क्षितिधरं नवमाततान ॥ १० ॥

---

१ ग-'विशीर्ण' ॥

यस्मिन् सदैव निकृत्तानि निकेतनाग्र-जाग्रन्मणिद्युतिभरैर्नितमां तमांसि ।
आरामकालिममिषेण बहिःस्थितानि, तानि प्रसर्पद्रथघट्टरवै रटन्ति ॥ ११

जाड्यं जनेषु रजनीजनितं विभिन्द-न्नुद्दीपयन्नपि दिवाकरकान्तचुल्लीः ।
जालान्तरागतकरस्तरणिर्दिवाऽपि, यस्मिन्नभूदनुगृहं ननु सूपकारः ॥ १२

यस्मिन् विलाससदनेषु विलासवत्यः, पत्युः करेऽपहृतवत्यधरोत्तरीयम् ।
रत्नप्रदीपविफलीकृतफूत्कृतास्त-नेत्रे निमील्य सुरतो दधतेऽन्धकारम् ॥ १३

पर्वक्षणे न खलु निश्चिनुते दिनेषु, नूनं सुवर्णसुरसद्मकिरीटकुम्भैः ।
यत्रोन्नतालयशिरःपुरयोषिदास्यै-र्नैव क्षपापतिमपि क्षणदासु राहुः ॥ १४

सङ्कोचिताम्बुजकुलोऽपि हतार्ककान्त-क्रीडोऽपि पीडितरथाङ्गकुटुम्बकोऽपि ।
प्रातः प्रयाति विधुरुज्ज्वल एव यत्र, सौधावनिस्खलितधामनि धामनाथे ॥ १५

रुद्धेऽपि यत्र मरुदध्वनि वारिवाहै-र्लोकः सदा नियमभानुविलोकभोजी ।
पूर्वाद्रिमौलिगतमेव गृहाधिरोहा-दर्कं विलोक्य लगति व्यवसायवीथ्याम् ॥ १६

यत्र प्रतिक्षणविवृद्धरसातिरेक-निष्कम्पदम्पतिकदम्बककैतवेन ।
रत्या सहाजनि निकाममनेकमूर्त्ति-रेकाङ्गमोहनरसैः स्मृतिभूरतस्तः ॥ १७

यत्रोच्चसौधभुवि सन्ध्यकारातपिण्डविभ्रम्भिणां गगनसिन्धुजलद्विपानाम् ।
कुम्भान् विभूषयति भीकगणः स्वभाल सिन्दूरधूलिभिरसन्ध्यकरोद्धृताभिः ॥ १८

यस्मिन्नुपर्युपरि गन्तुमशक्नुवन्तो, दूरेण सूरतुरगाः परितः स्फुरन्तः ।
उच्चैर्विशालमणिसालगतस्वबिम्ब स्पर्द्धाद्धतैर्दिनमिति परिमाणयन्ति ॥ १९

चेद् योग्यताऽस्ति परिखां पिब मे त्वमेहि, विन्ध्योऽप्युदस्तु मयाऽपि हतोऽर्कमार्गः ।
यत्रेति केतुपटकिङ्किणिकारवैः खे, वप्रो वदत्युदधिपायिनमप्यगस्तिम् ॥ २०

मन्दाकिनी वियति तुङ्गविशालसाल-रोधद्विधाप्रसमरा परितः स्फुरन्ती ।
शङ्के सुराधिपतिनिग्रहविग्रहाय, यत्रान्तरालपरिखाश्रियमादधाति ॥ २१

भुग्नानि[2] भूमिधरभासुरसालभित्ति-भागेषु मारविषगण्यभितोऽपि यत्र ।
व्योमापगाभ्रगजप्रतिमानसीम-निर्भिन्नदन्तहृतिलक्ष्मनिभानि भान्ति ॥ २२

यद्रत्नवेश्मपरिमार्जनिकारजोभि-र्दूरोज्झितैरुपवनावनिदोषभीत्या ।
अभ्रंलिहो जगति यः पटुरत्नगर्भः, कूटः किलाजनि जनेषु सुरत्नसानुः ॥ २३

यस्मिन् जनाय मणिवेश्मदिवाविभिन्न-ध्वान्तोत्करेऽपि कथयन्ति विभातमारम् ।
लीलासरोवरसरोरुहिणीविकाश-सौरभ्यलुब्धदलिनीकलकूजितानि ॥ २४

---

१ ग-क्षपा° ॥ २ ग-भग्नानि ॥

सत्यभ्रमेण घृतकानि गृहेषु हत्वा, हन्तव्यरूपकशतानि विशीर्णदन्तः ।
सत्यान्यपि प्रतिभयेन न तानि हन्ति, सम्प्राप्तधर्म इव यत्र बिडालकोऽपि ॥ २५

यद्दानिदानमुदितेन वनीपकेन, लब्ध्य प्रभूतमुक्तैः कथमप्यवाप्त ।
छाया विभूषण पयोऽर्पणहेतुरेव, देवद्रुरत्न सुरगोविभवोऽपि भेजे ॥ २६

योगराजः

तत्रावनीविभुरभूद् वनराजराज-राजीवभानुररिवर्गवनीदृशानु ।
श्रीयोगराज इति यस्य रराज पाणि पद्मेऽन्विपक्षसुभगा भ्रमरीव भूमि ॥ २७

यस्यासिधेनुकलिके नवनागवल्लि पत्रोपमे मुखमुपेयुषि भूभुजङ्गै ।
सद्यस्करस्फुरसनैरभिवीरलक्ष्म्या-माश्लिष्यते स्म जगती नवमोहनेन ॥ २८

रत्नादित्यः

भार सुचो भुजमेरेण बभार रत्ना-दित्यस्ततः क्षितिपमण्डलमौलिरत्नम् ।
चण्डासिदण्डदलितोरुतरावनीभृ द्दशाल्लिविस्फुरितमौक्तिककल्पकीर्ति ॥ २९

आदेशमात्रमिव यस्तरवारिदण्ड, धीरयैव दण्डधरचण्डधराधिपस्य ।
चक्रे प्रयाणकमरातिनरेन्द्रवर्ग, स्वर्गे प्रति त्वरितमद्भुतगीतिभावात् ॥ ३०

वैरिसिंहः

दुर्वारवारणघटोत्कटवैरिसिंह, श्रीवैरिसिंह इति भूदयितस्ततोऽभूत् ।
यत्कीर्तिकान्तिविशदेषु जगत्सु पाणि-स्पर्शेन चन्द्रमसमाकलयन्ति तारा ॥ ३१

प्रत्यर्थिपार्थिवगण समराङ्गणेषु प्रच्यावितांशमितरणिद्युतिभास्तु ये ।
तत्तो महोर्मिरिव यस्य कृपाणवल्लि धारागृहे यतिकुल्यसनी बभूव ॥ ३२

क्षेमराजः

श्रीक्षेमराजनृपतिर्वसुधा सुधांशु-ज्योत्स्नासमुज्ज्वलयशा प्रशशास तस्मात् ।
यस्यासिवल्लिरिभकुम्भविभवल्लभ-मुक्ताफलैः कुसुमिता फलिता जयेन ॥ ३३

धूमीभवद्यदसिवल्लिलताङ्कवर्ती, कोपानल किमपि यस्य हृदि प्रदीप्त ।
प्रत्यर्थिपार्थिवचमूरमणीसमूह-बाष्पाम्बुभिर्न शमनं शमयाम्बभूवे ॥ ३४

चामुण्डराजः

विश्वप्रभु कुनृपकदुरितास्मितुण्ड-चामुण्डराज इति राजपति स्म नाम्नात् ।
पूरे प्रसर्पति यदीययशःसरित्या, दूराद्विमज्जति स्म तारकौघैः ॥ ३५

निर्यन् पयोनिधिपयोधिरम्भः घनात, दीप्यामिनो भाति यस्य यशः प्रकाशम् ।
अद्यापि नाप्नोति पारमिति प्रसर्पन्, लेखस्तवैर्नगरे स्वगतो मुरारि ॥ ३६

आहडः

आसीदथ प्रबलमन्युयश शशाङ्क-श्रीराहुराहड इति क्षितिजीवितेशः ।
निर्लोठितोऽद्भुतगदीशकृपाकृपाणी-सम्प्र· मशी किल तदीययश समुद्रे ॥ ३७

यत्कीर्तिमेव धवलामवलोक्य लोके, लोकोऽयमन्वहममन्यत पूर्णमासीम् ।
एतां पुन सततमामनि चन्द्रचारं, पश्यन् कुहूतिथिविनिर्कमनापदर्कः ॥ ३८

भूभटः

श्रीभूभटो रिपुभटोद्भयभेदरक्त-प्रोल्लासपङ्कितपन्नलतस्ततोऽभूत् ।
दिक्कुम्भिकुम्भमिपदिग्वनिताकुचाग्र-क्रीडाविशृङ्खलयशा जगतीभुजङ्गः ॥ ३९

दानच्छटासुरभिनीतकलिन्द्रिकेसु-लीलाचलध्वगतान्मठवारणैः ।
यत्कीर्तिमन्वहमिलाप्रविलासरिक्ता, दिग्योषितो जलधिसीमनि धीनयन्ति ॥ ४०

हरहसितसितानि तानि तस्य-क्रमनुतमानि जगत्त्रयीयशांसि ।
चिरमध्यमयानि शशास भास्व-त्तरतरवारिनिवारितारिवर्गः ॥ ४१

किञ्च—

दीर्घायुर्भवतादिति द्विजवरैर्मलायुरित्यन्वहं,
बन्दीन्द्रैरजरामरेति च पुनर्याभिस्त्वमाशास्यसे ।
श्रीमन्त्रीश्वर वस्तुपाल ! निरपि भूमस्तु विस्तारिणी,
कीर्तिर्नृत्यति यावदेव दिवि ते तावद् भवान् नन्दतात् ॥ १

उद्भ्रान्ते सहसा पिनाकवलने श्रीराणगोल्हना-जहाते स्वच्छूपगप्रशमनप्रारम्भसंरम्भिते ।
उभे रावणनाशमानुरवैरेभिर्मनोभिर्नभो, श्रीमीमान्वयजोऽयमर्क तुल्यमशोगी नरस्पर्धया ॥ २

जैनं किलेनं जगदु दिनेऽपि, श्रीवस्तुपालः सचिवस्तु भक्तः ।
यस्मात् गृहीते शुचिकीर्तिनारी-रसितत्पद मोऽम्भमूर्तिमीशम् ॥ ३

सदा प्रसादोन्मुखवस्तुपाल-दृक्पातपीयूषरसानुसारम् ।
अमुं प्रबन्धं प्रतिवादिदन्ति सिंहोऽरिसिंहो रचयाञ्चकार ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्-नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यहं च वाणि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति श्रीसुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये चापोत्कटान्वयवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥



मूलराजः

परेऽथ तस्याजनि भाग्निपेय, चौलुक्यवंशाम्बरपूर्णचन्द्रः ।
श्रीमूलराजः प्रतिकूलराज समूलनिर्मूलनदक्षप ॥ १

१ प०-'निभाति भाति' इति पाठः ॥

तथाऽस्य तेजोभिररातिजाति-रवाप तापव्यसनं वनान्ते ।
यथा हिमाम्भःकणसङ्गमङ्गे, दवस्फुलिङ्गेषु रगासु मेने ॥ २

सुव्यक्तभक्तिः प्रतिसोमवार, य सोमनाथं प्रणिपत्य वीरः ।
तद्भालनेत्रानलचन्द्रमाभि र्नमार तेजश्च यशश्च पुष्टम् ॥ ३

सम्पूर्णशक्तित्रयसम्भवा य, अम्बुत्रयीर्दिवगृहच्छलेन ।
कीर्तिस्त्रिधा मूर्त्तिमती पताका-हस्तैर्नटन्तीर्ध्वयाञ्चकार ॥ ४

विजित्य य समरे कन्यकुब्ज-महीभुजो वारपदण्डनाथम् ।
जहार हस्तिप्रकरं करात्र-सूत्कारसंदीपितपौरपाणिम् ॥ ५

न भूभृतः केऽपि यदग्रभागे, मेजुर्गुरुत्वं किल साऽपि मग्ना ।
अदृश्यता यच्चरवारिवारि निधौ दधौ कच्छपकृस्सेना ॥ ६

स्वर्गे जिगीषुश्चरणाग्रलग्न-मग्निं विधूय प्रबलप्रतापः ।
महो महीयानसहिष्णुरस्य, निर्भेद मानोरपि मण्डलं यः ॥ ७

चामुण्डराजः

इमाखण्डयाखण्डलचण्डशक्ति-श्चामुण्डराजः प्रबभार तस्मात् ।
द्विषां मुखं कम्बुमसूनिवान्त, कृत्वा तनाहुर्यदसिर्विवेश ॥ ८

अजस्रमत्तैर्वनपादपानां, यस्यारिनारीभिरकारि सेकः ।
सान्द्रच्छदच्छायतया महान्त-स्ताम्योऽपि ते प्रत्युपकुर्वते स्म ॥ ९

वल्लभराजः

तस्माद् भुजङ्गेन्द्रभुजो बभूव, भूवल्लभो वल्लभराजदेवः ।
यत्कीर्तिदासीकृतकौमुदीन्दु-सुर्रासुरेन्द्रो विशदोऽयमद्य ॥ १०

अटव्यटव्या यदरातिवैरी, दरान्तिकोडिनतराजलोकः ।
रीणोऽप्यतिक्रम्य पराक्रमेण, हर्यन् दरीमन्दिरमाविवेश ॥ ११

अदात्मौलिर्मृगचर्मवासा, नित्यं फलाशी वनमध्यवासी ।
अन्यायद्रुम हृदि यं तपस्वी, सदाऽपि रूपस्थमरातिभूपः ॥ १२

द चित्रं मह्योऽस्य भविष्यतानि, माले न्निपि भाग्यमनिभर्तुं ।
आरुह्य चूडामणिमिन्द्रभा-स्तुलोप रोपी यदसिर्भगद्य ॥ १३

ऊर्ध्वरिक्तारातिचमूसमूह प्रच्छादनोच्छ्वसितरसैयरेणु ।
यो धैर्यधुर्यो जगति द्विनीया, दधौ जगज्जन्यन इयभिरव्याम् ॥ १४

---

१ क-ख-"रसो ॥

दुर्लभराजः

अभूदथ न्यायपरः परस्त्री-सुदुर्लभो दुर्लभराजराजः ।
यः कृष्णसाम्ये कथितैः कवीन्द्रै-र्विचिन्त्य गोपीचरितं ललज्जे ॥ १५

तमीदिने व्यत्ययतो वितेनु-र्यद्वैरिणः प्राप्य महीध्ररन्ध्रम् ।
तदौषधीदीपितमाप्रदोषात्, तमिस्रमिश्रं पुनराप्रभातात् ॥ १६

भीमराजः

अथावनीशोऽजनि शौर्यसीमा, भीमाभिधो येन युधि द्विषन्तः ।
श्रीभीम ! रक्षेति हरं स्मरन्तः, स्वध्यानबुद्ध्या मुदितैर्न मुक्ताः ॥ १७

विश्रम्यतो मालवभूमिभर्तु-र्येऽङ्गके शुभ्रभृतत्रपस्य ।
यत्सैन्यधूलीभिरदस्यवक्त्रा-म्भोजस्य भोजस्य हृदा न दीर्णम् ॥ १८

सर्वत्र सञ्चारिषु यच्चरेषु, चरत्स्वरण्येऽरिनरेन्द्रवर्गः ।
दरेण नश्यँल्लघुकन्दरोऽपि, गुणाय कार्श्यं गणयाम्बभूवे ॥ १९

कर्णदेवः

श्रीकर्णदेवोऽथ नृपस्त्रिलोक-विलोकनीयद्युतिराशिरासीत् ।
यं वीक्ष्य नारीहृदयैकवासो-ऽधिकं ह्रियाऽभून्मदनोऽप्यनङ्गः ॥ २०

पूजासु पाणिग्रथितपुष्पमाल-मालोकयन् यं पुरतः पुरारिः ।
क्रुद्धोऽपि पुष्पायुधयुद्धबुद्ध्या, भेजे भवानीहसितः प्रसत्तिम् ॥ २१

सम्पालयन्तो यदरीन् दरीषु, स्फुटं कुटुम्बित्वगता गिरीन्द्राः ।
अद्यापि दीप्रौषधिदीप्रदीप्ताः, क्षपां सशङ्काः क्षपयन्ति शङ्के ॥ २२

जित्वा बलैर्मालवभूमिपाल-मानीनयान् यः किल नीलकण्ठम् ।
तन्मूर्ध्नि सिन्धुप्रथितापसव्ये, भैर्पीद् यशः स्वं भुवनत्रयेऽपि ॥ २३

जयसिंहदेवः

बभार भूभारमथो जयश्री निकेतनं श्रीजयसिंहदेवः ।
माले रराज प्रतिराजकस्य, राज्यप्रतिष्ठाभिरको यदङ्कः ॥ २४

यत्र क्षितिं रक्षति काङ्क्षति स्म, धारा न धाराधरयोरबीनाम् ।
न वैरिवधूनयनाम्बुकम्बै-र्नदीनदीमातृक एव लोकः ॥ २५

उद्दामदानप्रसरस्य यस्य, व्यसनपरोऽनुपयोधिमध्ये ।
कल्पद्रु-चिन्तामणि-कामधेनु-वर्गोऽभिरक्षापत्र मौक्तिकत्वम् ॥ २६

---

१ ख-दर्पिते ॥ २ ख-महेन्द्र ॥ ३ ख-ग-मूर्ध्नि ॥

सपादिमुर्वीमपि ये भुजेना-न्वहं वहन्तः क्षितिपा न खिन्नाः ।
क्ष्मालेशजैर्मूर्ध्नि घटैः क्व तेषां, खेदोऽस्तु यद्द्वारि सवारिलेशैः ! ॥ २७

युग्मेन यस्यासिलता प्रताप-कीर्त्योः प्रसूयाऽरमयत् कृतार्थी ।
उच्चैः रवीन्दुद्विककन्दुकश्री-शिल्पे वलन्दोलिनि विश्वतल्पे ॥ २८

धृता चिरं या हृदये निरस्ता, सा कालिका यज्जनितप्रसत्त्या ।
विलग्नद्विड्वीरकिणच्छलेन, स्थातुं पपात द्विषतां पदेषु ॥ २९

यस्य द्विषां कण्टककूटकोटि-क्षतानि कान्तारजुषां तनूषु ।
नभ्यानि नित्यं मृगमग्नपुराप-अवाङ्गनासङ्गनखाङ्कशोभाम् ॥ ३०

दृष्टैः स्मृतैरप्यपरैः प्रकृष्टै-ररक्षिना यस्य युधि क्षतेभ्यः ।
त्रस्ताः श्वसन्तो रिपवः समस्ता, व्यस्तारयन् नास्तिकदृष्टिसृष्टिम् ॥ ३१

अपि द्विषः प्रागकृतप्रहारा-नभिन्दतामात्मचमूभटानाम् ।
स्पर्शेन पूतानपि यस्तुरङ्गान्, गङ्गाम्भसि क्षालयति स्म कीर्त्यै ॥ ३२

यः सञ्चरन् बर्बरखेचरस्य, स्कन्धाधिरूढो रचयाञ्चकार ।
मुखश्रिया सेन्दु दिवाऽपि देह-द्योतेन दोषाऽपि नभः सभानु ॥ ३३

यद्दीपकारागृहमाप्य धारा-पतिर्यशोवर्मनृपः सिषेवे ।
कृपैः सदा बाष्पपयोभिरुष्ण-श्वासैश्च कालत्रयमेककालम् ॥ ३४

यत्कारितं सिद्धसरः सरस्वत्-पाताऽपि पातुं घटभूरशक्तः ।
न प्राप्यलोभक्रमभयादुपैति, स्फुटैव विन्ध्याचलवृद्धिरक्षा ॥ ३५

श्रीसोमनाथोऽपि कृपैकपात्रं, यं मातृभक्त्यैकरुचिं विलोक्य ।
दक्षक्रतुक्षतिशिरश्छिदादि-पापोर्मिनिर्मुक्तममन्यत स्वम् ॥ ३६

विश्वं जगद् येन विजित्य कीर्ति-स्तम्भस्तथा कोऽपि महानकारि ।
यथा हिमाद्रेरिव यस्य मूर्ध्नि, नभोनदी केतुपदं प्रपेदे ॥ ३७

लीलावदुप्तद्विजनायकस्य, यशःकुमारस्य कथाप्रथाभिः ।
विलज्जितो य सततं द्विजेन्द्र-स्थानप्रदानव्यसनी नरेन्द्रः ॥ ३८

<u>कुमारपालदेवः</u>

तस्य यथाहर्गमनं सुधार्द्रबुधाधिगोष्ठीरसवर्षिणेऽस्मिन् ।
कुमारपालः क्षितिभूमिपाल, श्रियं मुमोष द्विषतां सरोषः ॥ ३९

हठाद्धरन्तं श्रियमन्यजिनानां, राजानमस्ते सति पादनाथे ।
यशो भटैर्यः प्रकटैर्यकार्षी-दमर्त्यकर्माऽस्मृतिपस्य ॥ ४०

---

१ क-ख-'भियुंघानि' ॥

मृगो. सुतेनेव जिनस्य धर्म-मुद्धारय येन सितमार्गणेन ।
क्षतक्षमामृन्नवर्मनैव, हंसैरिवाशोभि जगद् यशोभिः ॥　४१

सितांशुना कीर्तिविनिर्जितेन, ज्योत्स्नातिरोकनिकीर्त्तेव ।
न्यक्षेपि येनानुपुरं विहार-च्छलेन खैरवहर्पहेतु ॥　४२

युधि स्वयं य. किल जाङ्गलेशं, बली विजिग्ये किमु चित्रमत्र ? ।
अनूपभूपो वशिनाऽपि यस्य, यतो जित. कौङ्कणचक्रवर्ती ॥　४३

अजयपालदेवः

अथोरुधामाऽजयदेवनामा, रराज राजा क्षितिमक्षतौजा ।
न केऽपि कारागृहेऽप्यरण्य-देशेऽपि नो यस्य मुमुर्द्विपन्तः ॥　४४

सपादलक्षप्रभुणा प्रदत्ता, रौक्मी बभौ मण्डपिका सभायाम् ।
सेवागतो मेरुरिव स्थिरत्व-जितो मुदं यस्य कृतप्रतापः ॥　४५

बालमूलराजः

तदङ्गजो दिग्गजदन्तशय्या-विश्रान्तकीर्तिः किल मूलराजः ।
तुरुष्कशर्माणि शिशुर्जयश्री-स्तनाफलानीव लसन्नगृहणात् ॥　४६

यस्मिन् सदोवे शिरसि प्रतीनी-महीभृति स्फारनखाम्बुजश्री ।
अस्त समस्तारिवश शशाङ्क-प्रतापचण्डद्युतिमण्डलाभ्याम् ॥　४७

भीमदेवः

श्रीभीमदेवोऽस्ति निरर्गलोग्र-भुजार्गलश्लाघ्यसमस्तभानु ।
निजत् करे मुक्तमय पयोधि-वेलामिलन्मौक्तिकमस्य वप्नुः ॥　४८

आजन्म सम्र मुसदा मदेक-त्यागप्रदानात् क्षयमेप मा गात् ।
इति स्मरन् य. धनराशि दातु-मुन्मूलयामास न हेममौल्यम् ॥　४९

यदाज्ञयापि सदानुमूल-मेवाधिभिर्मानिषु रंचरीणाम् ।
विलासहेमाद्रिषु मेरुपाद-धियाऽऽननाना स्वगृहोत्सङ्गे ॥　५०

सततविनतदानर्भाणि दोपरुनी सितिमिनकनिकर्निर्भीमभूभीभुजग्र ।
बलकवलितभूमीमण्डले मण्डलेशो धिषणपचिनाचिन्ताचान्तचित्तान्तगेऽभूत् ॥　५१

किंच—

सर्वेनु नार्गिन-मत्स्य ! किमु पूर्वमेतं, भेना सुरावगतिमामु विसरपुराणु ? ।
भूमिं विभूषयन कोऽपि न यानो य, श्रीवस्तुपालसचिवस्तु सनातनायु ॥　१

श्रीवस्तुपालसचिवस्तुतिनियमक्तान्, पुरस्तथाऽयजदकिञ्चनता विरक्ता।
मन्दैव दैववचसाऽपि यथा प्रयाति, न प्रातिवेश्मिकनिकेतमुखेऽपि तेषाम् ॥ २

श्रीवस्तुपालाभिधमन्त्रिभर्तुर्भूरम्बुदस्येव तमालनीला।
अभ्युल्लसन्ती जलराशिसीम्नि, रिपुप्रतापानलशान्तयेऽभूत् ॥ ३

एवं प्रबन्धमयमुद्धुरवादिवृन्द-वक्त्रारविन्दरजनीरमणोऽरिसिंहः।
श्रीवस्तुपालचरितामृतसिन्धुवीचि सवावदूकमुचितं रचयाञ्चकार ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते। इमान्यघत्त चत्वारि काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्तननाम्नि महाकाव्ये चौलुक्यान्वयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



वीरधवलवंशवर्णनम्

अथादर्शि निशाशेषे, कुशाशेषनिभूमिना। स्वप्ने कदापि भूपेन, कोऽपि श्रीभासुरः सुरः ॥ १

धात्र्या धर्तुं न शक्योऽथ मियङ्गितश्मीश्रुः। वासुकेः फणवद् बिभ्र-न्मरवरत्नजुषोऽङ्गुली ॥ २

हारान्तपद्मरागस्य, प्रभारागमिवाद्भुतम्। अथ परिदधद् वासः, कान्ताक्रोशशोभरुक् ॥ ३

करारोपणार्त्तीतीरसमाने समागताम्। उज्झितानुर्मिरालैर्नरलान् दधदधोमुखान् ॥ ४

सेवकेषु छदेऽपि जये(य) दातुमिवाऽऽयहन्। मुरचापवय दोर्भ्यां, रत्नकङ्कणकान्तिजम् ॥ ५

प्रज्वलन्मणिकेयूर प्रभापूरच्छलादयम्। भुजोर्ध्वार्चिमुत्तालज्वालाजालमुदश्रयन् ॥ ६

लावण्यामृतपूर्णस्य-स्यन्दिबिन्दुकदम्बवत्। कुर्वन्नुरसि व्यक्तं, हारमुक्ताकलापकम् ॥ ७

हृद्वर्तिन प्रसादस्य, प्रासादस्याद्भुतश्रियाम्। वैजयन्तीमिवाविभ्र-द्दास्ये शुभ्रां स्मितद्युतिम् ॥ ८

कपोलयोरिवामान्तौ, कान्तीरावर्त्य पिण्डिताः। दधान कर्णयोः स्वर्ण कर्णिकायुगलच्छलात् ॥ ९

पतित स्फुरितद्योति-जटापटलपेशलम्। मौलौ नीलमणिं बिभ्रत्, केशवन्द्यादिकन्दवत् ॥ १०

विहरच्चिकुरज्योति-र्झल्कारोर्मिकोमलम्। दधदम्भिद्भुमाल्यान्त भ्रान्तभ्रमरधोरणी ॥ ११

अथ पृथ्वीपतिं प्रीति-स्ताकदम्बमिवाऽऽनन। वचनामृतवीचीभि-र्देवोऽसाविषसिञ्चत ॥ १२

राज्ञा कुमारपालोऽर्हद्धर्मांसर्गवैभव। प्राप पितामहस्नेह, स्नेह दुस्थे दधन् त्वयि ॥ १३

सदर्पमर्पयिष्यामि, तवाऽहं राज्यवाहनम्। वत्स! त्विषोत्स्यते तेन, पवनेनेव पावकः ॥ १४

चुलुक्यकुलकान्तार-गज श्रीधवलाङ्गज। रिपुसर्पसुपर्णोऽभू-दर्णोराजमहीभुजः ॥ १५

यद्भयप्रभयस्वेद-पय परिचयैरिव। राज्यश्रीस्त्रियो हमा, मालेषु प्रतिमूत्रताम् ॥ १६

युधि व्यनासि यस्यासि-जैत्रश्रीनाटिकानटः। पापिपार्श्वरत्वं पार्श्ववर्तिना समवर्तिना ॥ १७

मयाऽसौ विक्रमक्रान्त-मनसा घनसाहस। अकारि कारणं श्रीणां, भीमपल्लीपुरप्रभुः ॥ १८

दुष्टामात्यनिषिद्धस्य, येनाकल्पि बलीयसा । राज्यं ते मत्प्रसादाना-मनृणीकारकारणम् ॥ १९

सुतस्तस्याऽस्ति लावण्य-प्रसादो युधि यद्भुजः । असिं जिह्वामिवाकृष्य, रिपुग्रासाय सर्पति ॥ २०

युद्धमार्गेषु यस्याऽसिः, प्रतापप्रसरोज्ज्वलः । अतीवारियशोवारि, पायं पायं न निर्ववौ ॥ २१

प्रतापतापिता यस्य, निमज्ज्यासिजले द्विपः । भीताः शीतादिवाच्छेदुः, सद्यश्चण्डांशुमण्डलम् ॥ २२

सर्वेश्वरममुं कुर्व-न्नुर्वीमण्डलमण्डनम् । भविष्यसि श्रियो भर्ता, सुखाम्भोधिचतुर्भुजः ॥ २३

अस्याऽस्ति च सुतो वीर-धवलः प्रधनाय यः । मार्गवस्य पुनः क्षत्र-क्षयसन्धां समीहते ॥ २४

भुजमारोपितां यस्य, युधि वीक्ष्याधिकश्रियम् । युधि भ्रष्ट द्विषां चापैः, सज्जितैरपि लज्जितैः ॥ २५

यं विलोक्यातुलं विश्वे, दानेन च बलेन च । पश्यत्युपेन्द्रमिन्द्रोऽपि, स्वभ्रोत्थितबलिभ्रमात् ॥ २६

रिपुभूमिशिरोरत्नी-भूतक्रमनखत्विषे । दत्त्वाऽस्मै दोष्मते यौव-राज्यं राज्यं चिरं कुरु ॥ २७

किञ्च स्वःसीम्नि येनाह-मनाहतगतिः कृत. । तं कथञ्चित् कलौ जैनं, धर्मं मज्जन्तमुद्धर ॥ २८

इति श्रुत्वा नृपः स्मित्वा, लसत्तत्पादपद्मयोः । ग्रहीतुमिव पाणिभ्यां, पद्मवासामिव श्रियम् ॥ २९

प्रसादसादरस्तस्य, मूर्ध्नि देवोऽप्यधात् करम् । कमलं कमलागेह-मिव स्नेहवशंवदः ॥ ३०

प्रातस्तूर्यस्वने सूर्यो-दयशंसिनि भूभुजः । निद्रा नेत्राम्बुजमुद्राकृ-दथ रात्रिरिवाभवत् ॥ ३१

अथ विस्मितहृदयो, महीपो दीपदीधितिः । साक्षाद् देवः किलास्तीति, मङ्क्षु पर्यङ्कमत्यजत् ॥ ३२

अथानणुमणिस्तम्भ-प्रभविष्णुप्रभां सभाम् । अभजद् भूभुजग्रहोऽयं कृतप्राभातिकक्रियः ॥ ३३

ततः क्षितिपतेरस्य, प्रतापेनेव निर्जितः । आकम्य प्रातरात्मानं, भानुर्भ्रमदीदृशत् ॥ ३४

स्फुरन्तः स्वप्रतापाग्नि-स्फुलिङ्गा इव संसदि । मण्डलेशा व्यलोक्यन्त, सेवावन्तः क्षितिक्षितः ॥ ३५

राजा हम्यां सुधाकुम्भ-सदृग्भ्यामभ्यषिञ्चत । देवादिष्टौ पितृसुतौ, सर्वेश्वरपदे द्रुता ॥ ३६

अभाषिष्ट सभाशिष्ट-समक्षमथ पार्थिवः । प्रसादसान्द्रलावण्य-प्रसादाय मुदा वचः ॥ ३७

अस्मिन् कृतोऽस्मि राज्ये त्व-पित्रा वित्रासितद्विषा ।
विध्यायन्तीमिमां भूति-मुद्भावयतु तद् भवान् ॥ ३८

गृहाण विग्रहोद्दाम-सर्वेश्वरपदं मम । युवराजोऽस्तु मे वीर-धवलो धवलो गुणैः ॥ ३९

प्रार्थितौ प्रार्थनीयेऽर्थे, प्रार्थनीयेन भूभृता । देवादेशः प्रमाणं नौ, तावूचतुरिदं मुदा ॥ ४०

पाणी संपुटय रुन्धानो, लोलां भर्तुमिव श्रियम् । पुनर्व्यजिज्ञपद् वीर-धवलो धरणीधवम् ॥ ४१

न मे स्वामिन्नमात्योऽस्ति, यं विना विक्रमी हरिः ।
अन्दे शब्दोद्धुरं कुम्भि-भ्रान्त्योत्प्लुत्य पतयध ॥ ४२

दक्षः शत्रे च शास्त्रे च, धने च प्रधने च यः । तममात्यं ममात्यन्त-गुणप्रगुणमर्पय ॥ ४३

---

१ क-ग प्रतापेन विनिर्जितः ॥ २ कपुस्तके-क्षितिभुजः । ख-गपुस्तके-क्षितिक्षितः ॥ ३ कपुस्तके-सुधाकुम्भ ॥

इति लक्ष्मीलतोल्लास-सुधया तद्गिरा चिरम् । प्रीतः किञ्चिद् विचिन्त्याथ जगाद जगतीपतिः ॥ ४४

वस्तुपालवंशवर्णनम्

पुरा प्राग्वाटवंशाग्र्य जाग्रत्कीर्तिस्तताततिः । राज्येऽस्मिन् महसा, चण्डश्चण्डपः सचिवोऽभवत् ॥ ४५

क्षीरोदसोदरो यस्य, यशोराशिर्निशाकरम् । भ्रातृव्योऽयमिति स्वर्गि-भुक्तिमानमगोपयत् ॥ ४६

तद्भूश्चण्डप्रसादाख्यो, दाक्षदाक्षिण्यभूरभूत् । गृह्णन्ति यद्गुणान् दक्षा, लक्ष्यन्ते न च तेषु ते ॥ ४७

ह्रास कैलासभूमीभृद्, भुजिष्यो भुजगेश्वर । किङ्कर शङ्करोत्तंस शशी यद्यशसामभूत् ॥ ४८

कीर्तिकल्लोलितव्योमा, सोमाख्यस्तत्सुतोऽजनि ।
प्रतिष्ठन्नर्थिनो नाथां, यस्मिन् यच्छति वाञ्छितम् ॥ ४९

अस्याऽऽसीत् कोऽपि न स्वामी, सिद्धाधिपतिना विना ।
विना जिनाधिपेनाभूद्, यस्य देवोऽपि कोऽपि नो ॥ ५०

तदभूत् कीर्तिभैरस्य राजो विश्वमराजयत् । तीर्थयात्रा व्यधात् सप्त, यः सप्तनरकच्छिदे ॥ ५१

त्रैलोक्यादुत्तमं वीक्ष्य, य माता पितृभक्तिभि । भक्तये स्पृहये माता पितृभ्यामात्मभूरपि ॥ ५२

आसीत् कुमारदेवीति, प्रातिभूरस्य वल्लभा । या जैनधर्मधुर्याऽपि, गौरीवल्लभभक्तिभाक् ॥ ५३

तयोस्त्रयोऽभवन् पुत्रा, रिपुत्रासकरौजस । यत्कीर्तिभिर्द्वितीयेव, त्रिस्रोता समजन्यत ॥ ५४

प्रथम प्रथितस्तेषां, मल्लदेवो धियांनिधि । स्वाराज्ये गुरुबुद्धीना स्वराज्यगतनिष्ट य ॥ ५५

धीमानास्तेऽनुजस्तस्य, वस्तुपालः कलास्पदम् । अनुजेनान्वह तेजःपालेनाराधितक्रम ॥ ५६

इमौ प्रत्यर्थिमथनौ प्रधानौ श्रीसमागमे । तुभ्य समर्पयिष्यामि, मन्त्रिणौ तौ तु मित्रयो ॥ ५७

इत्युक्त्वा मुदित वीरधवलेऽसौ धराधव । आहूय तौ स्वयं प्राह, नमन्तौ सहोदरौ ॥ ५८

युवां नरेन्द्रव्यापारपारावारैकपारगौ । युक्ता मन्त्रिता वीरधवलस्य मदाकृते ॥ ५९

युवाभ्यामेन नेत्राभ्यां चक्षुष्मानस्य विक्रम । आलोक्यालोक्य निःशेषानपि द्विषन् पिनष्टु मे ॥ ६०

किञ्च प्रपञ्चयतमेव युवां जिनेन्द्रधर्मे जिनेन्द्रपदपद्मयुगद्विरेफौ ।
स्वभावलोकितनृपालकुमारपालसन्दिष्टमिष्टतममेतदवश्यकार्यम् ॥ ६१

आस्थानमण्डपमिदं प्रतिपद्य दम्भात्, केनाप्यदृष्टमरुताऽनुमतो हि तेन ।
शिक्षामिति क्षितिपति स तदा प्रदाय, वीराय वीरधवलाय मुदाऽर्पयत् तौ ॥ ६२

किञ्च—

कल्पान्तेषु यशोभर तव हरिर्दुग्धाब्धिवासस्मय,
मार्कण्डेयमिदिवापगास्वपय स्नातो सव न्यस्यते ।
मिथ्योक्तिः कविनेति नात्र वचसि श्रद्धाऽस्ति चेत् तच्चिरं,
नन्द श्रीस्तुत वस्तुपाल ! भवतु प्रत्यक्षमेतत् तव ॥ १

१ ख-ग-पुस्तके-दासयशा° ॥

शस्त्रविस्तृतिपरः परं परो, रक्षति क्षितिमिमामराजितः ।
वस्तुपालसचिवस्तु पात्यन्त्येष देवगुरुवन्मनीषया ॥　२

संग्रामसिंहकुयशोभरभृङ्गभङ्गि-भास्वद्यशःकुसुमसौरभसम्भृताशः ।
पार्श्वैभवेन किल कोकिलकोमलेन, शश्वद् वसन्त इव भासि वसन्तपाल! ॥　३

श्रीवस्तुपालस्य यशस्तरङ्ग-पूरैः परीतं परितोऽरिसिंहः ।
व्यधत्त दुग्धाब्धिमिव प्रबन्धममुं समुद्भूतरसप्रशस्यम् ॥　४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥　५ ॰

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये मन्त्रिप्रकाशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



वस्तुपालसचिवेन्द्रशेमुषी-सम्मुखः पुरुषपौरुषोदधिः ।
मेदिनीमजयदब्धिमेखला-मेष वीरधवलोऽथ दुर्द्धरः ॥　१

तन्महानतिरकम्पसङ्कटे, कण्टकालिरहिते हिते सताम् ।
न्यायवर्त्मनि समे समन्ततः, सम्मदेन समचीचरत् प्रजाः ॥　२

कस्यचिद्धरणिमण्डलच्युते, कुण्डलेऽपि मणिराजिराजिते ।
शङ्कयेव भृशमाशुशुक्षणेः, कोऽपि न क्षिपति पाणिपङ्कजम् ॥　३

ऋद्धिवृद्धिविशदेषु सर्वदा, देशवासिषु जनेषु मानिषु ।
दीयमानमपि नाददीत यत्, कोऽपि तस्करकथा ततः कुतः ? ॥　४

सर्वथाऽप्यसति याचके क्वचित्, कोऽपि किञ्चिदपि न प्रयच्छति ।
कौतुकात् कविभिरेव वर्ण्यते, दानवानिति महाधनो जनः ॥　५

एतदाननविलासि पात्यन्त्याशु वीरधवलादपि द्विषः ।
आत्मगौरवमिति श्रुतं क्षितेर्नैव कश्चिदुदपाटयत् तृणम् ॥　६

नित्यचैत्यकुतुकावलोकन-व्यग्रलोकमणिभूषणांशुभिः ।
जर्जरे रजनितामसेऽप्यलं, पांशुलासु न मनोरथद्रुमः ॥　७

इत्यवेक्ष्य मुदितं पदे पदे, लोकमुच्चनिरनेकमेकदा ।
वस्तुपालसचिवं व्यजिज्ञपद्, व्यक्तभक्तिभरभासुरोऽनुजः ॥　८

बुद्धिरेव तव देव ! दासता-मानिनाय विषमानपि द्विषः ।
मण्डनाय नृपमण्डलश्रिया-मेव वीरधवलस्य वाहिनी ॥　९

येनपासवदपासमन्यत्, प्रीणयत्यनुदिनं धनैस्त्वयि ।
तस्करेऽपि मृगमर्षिता गत, शेरते पुरि सुखेन रक्षका ॥ १०

तावकीनयशसैव चाधवलौ, पूर्णिमा स्फटिसमेन तन्वता ।
उज्ज्वले जगति पाशुलाकुलैराकुलैरहह ! साधुता दधे ॥ ११

त्वमहोमिरहिमांशुकोटिवद्, निष्प्रकम्पनयनेन राहुणा ।
हिम्मभानुरनुपद्रुतोऽभवत्, सीम्नि वर्षति विशेषहर्षित ॥ १२

इत्थमद्भुतविभूतिभूरभूद्, देव ! देशजनता नयात् तव ।
जैनधर्मपरिवर्धनोचित, तन्महाश्रमणशासनं स्मर ॥ १३

वाक्यमस्य सुरसिन्धुबन्धुरा, भारतीमिति निशम्य सम्मदी ।
आह किञ्चन निचिन्त्य चातुरीरोचितं सचिवचक्रशेखर ॥ १४

आत्मगोत्रगुरव पुराऽभवन्, विश्रुता भुवि महेन्द्रसूरयः ।
यैः सिताम्बरवरैः सिताम्बर, निर्ममे जगदमेयकीर्तिभिः ॥ १५

यैरजीयत जगत्त्रयीजयी, मन्मथोऽयमिदमद्भुतं न न ।
यद्वधूऽपि यशसा यतो जित, कामजित्सुकृतकुम्भि सा शशी ॥ १६

शान्तिसूरिरथ तत्पदश्रियो ऽलङ्कृतिः क्षितिपु शासनोऽभवत् ।
उद्गृणन्ति महतोऽपि यद्गुणान्, निस्तृतामृतरसा रसाधिकम् ॥ १७

य सुदर्शनधर हरिभ्रमाभासनाद् गुरुरिति स्वयं रतिः ।
कान्तसोमकलमौलिशङ्कया, य जयीति मदनोऽपि नैक्षत ॥ १८

तत्पदेऽनिविदितप्रथाव्यथा ऽऽनन्दसूरयमरसूरिराजको ।
वासमन्दिरविलासमन्दिरं, श्रेयसा मुनिविभू बभूवतु ॥ १९

शैशवेऽपि मदमत्तवादविद्वारवारणनिवारणक्षमौ ।
यौ जगाद जयसिंहभूपति-व्याघ्र-सिंहशिशुकाविति स्वयम् ॥ २०

तत्पतोर्गति निर्भरं ययोर्येदचममगमन् विवादिन ।
स यदि स्फुटयशानुवादतः, स्वस्य मन्दगुणतामदर्शयत् ॥ २१

तत्पदाम्बुरुहषट्पदा पद, भेजिरेऽथ हरिभद्रसूरयः ।
यैर्विलङ्घ्य कुसुमानि कान्तिभिस्त्यैव कुसुमायुधो जित ॥ २२

संयमप्रभृतिभिस्तथा गुणैर्यैर्मत पदमपूरि सूरिभि ।
न प्रवेष्टुमिह मन्मथो यथा ऽनङ्गतामपि गत क्षमोऽभवत् ॥ २३

सन्ति सम्प्रति तदीयशासने, सूरयो विजयसेनसूरयः ।
उज्झितो जगति यैर्महाव्रतस्मन्मथोऽपि मनमेदनोऽभवत् ॥ २४

सर्वतोमुखतपोहुताग्नैर्येर्हुत स्मर इति क विस्मय ? ।
निर्जित पुरजिता पुरा यतो, नेनमानतुम्निताग्निनाऽपि स ॥ २५

गम्यते तपनरम्यतेजस स्तस्य वदननिधिसया गुरो ।
देशना समधिगम्य तन्मुखाद्, धर्मकर्मणि निधीयते मन ॥ २६

इत्युदीर्य मनिभासुर पुरस्कृत्य कृत्यविदसौ सहोदरम् ।
कम्पयन् कलियुग मनोरथै रासमाद वसति मुनीशितु ॥ २७

द्वारमध्यमविशन्निपेधिका मुद्गिरन् गुरुमवेत्य तपुर ।
बाष्परुद्धनयन पदे पदे, सम्मदेन घनगद्गदोऽस्खलत् ॥ २८

दु षमाविषमतापतापिता, वीजयन्निव परामसौ चिरात् ।
अञ्चलेन करचञ्चलेन स चक्रिवान् गुरुनमस्कृति कृती ॥ २९

दन्तदीप्तिपटलच्छलोच्छल-न्मूर्त्तिम सुकृतवर्मितामिव ।
विभ्रदद्दुरितराशिरातिप, निर्ममे तदनु निर्ममेश्वर ॥ ३०

सोऽभ्युदञ्च्य कथमप्यथ क्षिते र्भक्तिभारनमित शिरश्चिरात् ।
अग्रतो मुनिविभोर्व्यभूपयद्, धुकमासनमधुकवासन ॥ ३१

आकलय्य गुरुसन्निका मुख-द्वारि निस्फुरितदन्तदीप्तिवत् ।
देशना सचिवभर्तुरमत कर्तुमारभत सूरिशेखर ॥ ३२

वीतरागमतधर्मकारिणि, साधुवृत्तगुरुभक्तिभासुरा ।
श्रावका कतिचिदात्मभावना-दान शील-तपसो भवन्ति चेत् ॥ ३३

दान शील-तपसा विजित्वरी, भावनैव भवनाशिनी भवेत् ।
सा पुनर्विजयते प्रभावना, सा तु सम्पदि सुखेन साध्यते ॥ ३४

अस्थिरा कलभिका इव श्रिय, पातयन्ति नरकावटे नरम् ।
कश्चिदेव निपुण नियोजक, स्तम्भयति विकृत्य भवाटवीम् ॥ ३५

श्रावकत्वममलं कुल कला चकनारमपि कश्चिदुद्वहन् ।
सम्पदा कलनयेव लोलया, पीतमद्य इव मोह्यते जन ॥ ३६

शीलिता शुचितरेषु रोपिता, स्थानकेषु समये यथाविधि ।
पुष्पिताऽद्भुततरैर्यशोभरै-राशु पुण्यफलदेनते भवेत् ॥ ३७

न स्थिरा कचन यान्ति सम्पद, सम्मिलन्ति रसवत् कथञ्चन ।
सम्पद प्रकटितप्रभावना, कस्यचिद् यदि भवति सिद्धये ॥ ३८

भावयन्ति परिकॢप्तभावना-दान शील-तपस स्वमव तन् ।
विश्वशासननिकाशदीपिका, व्यातनोति विरल प्रभावनाम् ॥ ३९

जल्पितानि बहुधा प्रभावना-कारणानि मुनिभिः पुरातनैः ।
उत्सवो भवति तीर्थयात्रया, तेषु शेखरमणिस्तु निस्तुपः ॥ ४०

सिद्धलोक इव सद्गता गनः, पूज्यते ननु जनो जिनैरपि ।
धन्य एव स तु तीर्थयात्रया, कोऽपि सद्व्ययिता निमर्ति यः ॥ ४१

दिक्पुरन्ध्रिमुखमुकुराय कस्यचित्, रौप्यदर्पणनिभो यशश्चयः ।
सद्व्ययप्रवितरेणुमार्जना दिन्दुधामधवलो विलोक्यते ॥ ४२

सद्व्ययैर्धरविरोपितस्तथा, वर्धते सपदि पुण्यपादपः ।
दर्शयत्यमृतसन्निभं यथा, विष्टपत्रितयमौलिगं फलम् ॥ ४३

नागेन्द्रगच्छमुकुटस्य मुनेरमून-माकर्ण्य वर्ण्यमिति मन्त्रिपतिर्विचारम् ।
नत्वा स्वधामनि जगाम जिनेन्द्रयात्रा निर्माणनिर्मलमनोऽतिमनोरथश्री ॥ ४४

किञ्च—

वितन्वाते विष्वाङ्गणसदसि यावत् तव यश
प्रतापाभ्यामभ्युल्लसितहसितचित्रवादं विधुन्वौ ।
भज स्थैर्यं सोमान्वयतिलक ! तावत् क सुकृते,
कृतैरेभ्यः सम्यक्त्वमिह गुण दोषैः कनिकप[1] ॥ १

ईदृक् कश्चिद् विपश्चिज्जनमनसि चमत्कारकारी पुराऽपि,
क्वापि प्रापि प्रबुद्धे वसुमति सुमतिर्वस्तुपालस्य तुल्यः ।
येन क्षीरार्णवार्णश्चयसिचयजुषः सिद्धसिन्धूत्तरीय
श्रीविस्तारोत्तराया व्यरचि शुभरुचि कीर्तिभिः कञ्चुकस्ते ॥ २

सचक्रनन्दकपुरोगदयाद्भुतश्री-स्त्वं वस्तुपाल ! पुरुषोत्तम ! जिष्णुरेव ।
तद् दूयते तु हृदि मेऽन्वहमेव शङ्खो, यद् सिन्धुराजतनुभूर्न करे गृहीतः ॥ ३

कविर्न को निस्तुषवस्तुपाल-यशःसुधानिद्ररसं रसज्ञः ।
प्रबन्धमास्वादयतेऽरिसिंह-मुखारविन्दैकमरन्दमेनम्[2] ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्तननाम्नि महाकाव्ये धर्मोपदेशनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



---

[1] ख-ग-'भवनोऽभवो' ॥ [2] ख-'हसितविविवाद' ॥

स तीर्थयात्रासु मनोमनोरथं प्रकाशयन् सम्मदमेदुरोद्यमः ।
पुरे पुरे श्राद्धजनाय नायको, विवेकभाजां लिखितान्यलीलिखत् ॥ १

अवाहनानामपि वाहनावली-मशम्बलानामपि शम्बलं बली ।
अकिङ्कराणामपि किङ्करान् कृती, वितीर्य सङ्घे समवीवहद् बहून् ॥ २

अदोषधीर्मन्त्रिपतिस्तदौषधी-रमीमिलद् विश्वरुजां विजित्वरीः ।
यमूव ताभिर्दृष्टमोषधीपतिः, स कौमुदीकोमलकीर्त्तिकारणम् ॥ ३

पृथैव वैधाननवधवैभवान्, समं स मन्त्री जगृहे महेच्छया ।
प्रभूष्णुसद्धर्मरेणुराशिजं, तदाऽखिलव्याधिहरं तमोऽपि यत् ॥ ४

न यद्यपि प्रौढनृपप्रभावतो, भविष्यति स्पृष्टमनोभिदा क्वचित् ।
परोपकाराय तथाऽप्यये कृती, युगादिसर्वज्ञकृतादरोऽभवत् ॥ ५

अथासितश्रीमतनिर्जिताम्बर-द्विपो भयाम्भोनिधिकुम्भसंभवान् ।
मठेषु गत्वा स्वयमद्भुतादरः, समं शमीन्द्रान् समवाहयत् कृती ॥ ६

सतां पतिः सङ्घपतित्वरोपणा-मिषेकमासाद्य गुरोः कराम्बुजात् ।
शुभे मुहूर्त्तेऽद्भुतवाह्यवाहिनी-वृतोऽचलच्चन्दनचर्चिताकृतिः ॥ ७

ततश्चतुर्विंशतितीर्थकृत्कला-कलादितीर्थङ्करदेवतालयः ।
चचाल नृत्यादिविनोदतत्परः, प्रजामुदश्रुस्नपितेन वर्त्मना ॥ ८

पिबन् पयः स्व सरितो वियद्वने, शशाङ्ककान्तीस्तृणुते तृणोपमाः ।
विशृङ्खलो यस्य यशःकिशोरकः, समं त्रिगोत्रैर्गुरुस्ततोऽचलत् ॥ ९

यथानुवर्त्तनरचन्द्रसूरयो, हसत्त्रसत्तोमविलोकनच्छलात् ।
दशीव सिञ्चन्त इवाद्भुतक्षमां, प्रयाति सङ्घे वसुधां सुधान्तया ॥ १०

अथाचलन् वायटगच्छवत्सलाः, कलास्पदं श्रीजिनदत्तसूरयः ।
निराकृतश्रीषु न येषु मन्मथः, चकार केलिं जननीविरोधतः ॥ ११

भवाभिभूतेन मनोभुवा भया-दनीक्षिते कक्षभवाभिभूतिभिः ।
अनाभि सण्डेरकगच्छसूरिभि-, प्रशान्तसूरैरथ शान्तिसूरिभिः ॥ १२

शरीरभासैव पराभवं स्मरः, स्मरन्ननस्यत् किल यस्य दूरतः ।
स वर्द्धमानाभिधसूरिशेखरस्ततोऽचलद् गल्लकलोकभास्करः ॥ १३

सहस्रशीर्षोरगकल्पकीर्त्तयः सहस्रधामप्रतिमानतेजसः ।
सहस्रनेत्रप्रमुखामरस्तुताः, सहस्रशोऽन्येऽपि च सूरयोऽचलन् ॥ १४

चतुर्दिगापूरणभूरिनिःस्वन-श्चतुःसमुद्रान्तमहीतलागतः ।
ततश्चतुर्यन्ततनिश्चलोऽचल-चतुर्विधः सङ्घजनो यथाविधि ॥ १५

वितन्वतः कासहृदाख्यपत्तने, महोत्सवं नाभितनूजसद्मनि ।
सहायतां प्रत्यशृणोन्महामते-रमुष्य सङ्घवर्मनि देवताऽम्बिका ॥ १६

अथास्य सङ्घस्य विसर्पतोऽग्रतः, मताङ्गचक्रोचितचीत्कृतस्वनः ।
नदन्महोक्षध्वनिवर्मितोऽपि सन्, हयालिहेषाभिरलाभि लाघवम् ॥ १७

पवित्रमेतत् तिलकाय निश्चयः, परस्परस्पर्द्धिभिरूर्द्ध्वमुत्सुकैः ।
तदा सदारैः समवापि दैवतैः, मुदैव तैः सङ्घविहारजं रजः ॥ १८

अभूत् तदा सङ्घपदाभिपङ्कत-स्तथा कथञ्चिद् विरजस्तमा मही ।
यथाधिरूढाऽपि शिरस्यहीशितु-श्चकार नो भारमुदारविग्रहा ॥ १९

विभेद लोमेन यवान् यवान्तरै-र्यथा प्रपेदे प्रतिघातपातकम् ।
पवित्रिता सङ्घपदैर्दिवं ययौ, मही स्वदेहेन रजोमयेन सा ॥ २०

महानयं सङ्घजनोऽचलत् कथं, धरिष्यथ स्वामिनि जल्पितुं तदा ।
गतैः समीपं किल रेणुभिः ककुप्-करेणुभिर्मङ्क्षु मदो निराकृतः ॥ २१

रजस्तदा विस्तृतसङ्घसम्भवं, नभोनदीनीरगभीरगर्भितम् ।
इहापि गङ्गामृदलाभि दुर्लभे-त्यकारि सर्वर्षिभिराशु हर्षिभिः ॥ २२

द्विजैश्चरश्चीटनिपातकादिव, द्रुतं दिवः पातिभिरर्कभानुभिः ।
पवित्रसङ्घकर्मागुसङ्गमा-दसङ्गमूर्द्ध्वेव गतिः स्म तन्यते ॥ २३

विसर्पता सङ्घजनेन मेदिनी, पवित्रिता प्रचुरस्पर्शिणी ततः ।
उदस्य भूरीशनपातनं व्यधात्, व्यधाच तूर्णं सुनराम्बगद्दिगी ॥ २४

कलापवत्यां भुवि सङ्घसङ्गमात्, मदा तरत्थामिव धर्मराशिधी ।
आक्रोशमाक्रमयामागग-मिति स्म पूर्यति मुदा महीभुजः ॥ २५

जयापदान्यानि निवासितुं [illegible] महेन परीपक्वाणिणा ।
[illegible] विरार्थमाना गतं व्यवस्थम ॥ २६

अमुष्य सङ्घस्य [illegible] श्रमणीवर्गमेतः ।
[illegible] भूमियान, दुर्लभानि पुण्यानि [illegible] ॥ २७

[illegible] ।
[illegible] इव प्रमोदिन [illegible] ॥ २८

[illegible] , पुंसु नीर्णहरा [illegible] ।
[illegible] ॥ २९

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३०

अगण्यपुण्यैर्भवसिन्धुपारम्-रमद्दयं लोचनगोचरो गिरिः ।
इति स्मयस्मेरहृदो विदस्तदा, ससम्भ्रमाश्रुरहो ! महोत्सवम् ॥　　　३१

गतोऽग्रतोऽस्मिन् दुरितैम्नाविलो, विलोक्य नाभेयनिकेतकेतनम् ।
जनस्तदा हर्षरसोर्मिनिझ्वो, मदान्न किं किं रचयाञ्चकार सः ! ॥　　　३२

ननर्त कश्चित् पृथुसम्मदस्तदा, सलीलमोलायितपाणिपल्लवः ।
प्रतिप्रतीकं परितः कुतूहला-दलं यथाऽऽलोक्यत पुण्यसम्पदा ॥　　　३३

बहुःपतत्पादयुगस्तदाऽपरो, ननर्त दूरप्रसरत्करच्छदः ।
विधातुमुड्डीय नगाधिरोहणं, मनोरथी पत्ररथीभवन्निव ॥　　　३४

भवभ्रमिभ्रान्ततरः शिरोगरा-ऽधिरोपितं पापभरं त्यजन्निव ।
इलामिलन्मौलिरमन्दसम्मदो, ननाम विश्रामविधित्सया परः ॥　　　३५

विलोकयन् कोऽपि वृषध्वजध्वजं, मुहुर्मुहुर्मङ्क्षु नमन्नमन्दधीः ।
उदञ्चित-न्यञ्चितमौलिलीलया, रराज मुक्तिश्रियमाह्वयन्निव ॥　　　३६

अमुत्र शत्रुञ्जयशैलसन्निधौ, भयार्णवस्येव तटे तदा परः ।
निरीयितुं पातकजातकर्दमा-ल्लुलोठ सर्वाङ्गमुदारभीर्मुदा ॥　　　३७

समुद्रवज्रावरसादचेतन-श्चिराय नृत्यान्निविवेकवर्जितः ।
परः शिलापुत्रसमोऽपि वाम्यया-न्नमोचि रिष्टैरपि रिष्टशङ्कितैः ॥　　　३८

इहाथ पाथस्तृणराजिराजिते, जितेन्द्रियो मन्त्रिपतिर्महीतले ।
क्षमापतेोदार्यमत्रापगत् तदा, निवासमासन्नममुष्य भूभृतः ॥　　　३९

अथाजवत् खिन्नजनप्रमोदिनो, दिनोपतापे सचिवः स किङ्करान् ।
मरुत्प्रपान् ग्रैष्मदेप तत्क्षणे, शिखिस्फुरद्ग्रन्थविडम्बिताम्बुदान् ॥　　　४०

सुबंदसंयोजितरूपशोभिता, विनिर्मिता भातुरसेन सर्वतः ।
पदे पदे पर्वतपादसोदरा, वितेनिरे पीवरचीवरालयाः ॥　　　४१

मनांसि धर्मक्षितिपस्य वप्रवत्, पदे पदे मण्डलितानि रेजिरे ।
तृणं द्विषत्पापमिवोद्मूलयन्, यतो विनिस्सृत्य वृषा मदा इव ॥　　　४२

गिरौ गतिं पश्यत नः कुतूहलात्, कथं वृथा मुञ्चत भूतले समे ? ।
इतीव चाटूक्तिकृतत्वरणं मुखे, वृषा व्यधुर्वेगति सारथौ पुरः ॥　　　४३

नैयेन सकस्य रसातलं यथा, कथं समाकृष्यत साऽपि भिन्महे (?) ।
नवीनचुल्लीविवरापदेशतः, खनन्ति भूखण्डमिति स्म किङ्कराः ॥　　　४४

१ क–ख पुस्तके ४४ तम काव्य नास्ति ॥

प्रवृत्तवृत्ता प्रेंचणैर्मिषाभिभि, प्रणीतर्मीना कमलाश्यपद्पदे ।
तदा व्यधु स्वागतमागा जन, विदम्भमम्भ प्रसरेण सिंधव ॥ ४५
तदाऽनपाकाय विकादित सिवी, नल्नन् वमौ सङ्घजन निवासिनि ।
भरानमद्भूमिभिदाशुटत्खुरस्फोटपूरामगिरस्विताशिक्त् ॥ ४६
अथैव तीर्थङ्करदवताग्य प्रम्न्नमव्यादिनमृजनो जन ।
मुदा नमस्कृत्य गुरुकमद्वय, प्रचकमे दाक्षतकन्यकत्यिषु ॥ ४७
अदायि दानाय तदा धन तथा, मनोरथालेनमनेन मन्त्रिणा ।
यथा परे निश्चयशायिनो जना, वनीपकानामपि चाटु चक्रिरे ॥ ४८
स्वय स कस्मैचन मोदकादिकं, घृतादि कस्मैचन शुद्धवासन ।
फलादि कस्मैचन सायके ददद्, तदा विशश्राम न मन्त्रिशेखर ॥ ४९
अकिञ्चन कश्चन याचत यन्त्रित्, किम यहो ! शब्दमिति प्रदाय स ।
चकार भोज्यादिकमात्मना कृती तृतीयवासक्षणपूरितेक्षण ॥ ५०
अथ कृतनतुकृत्य कौतुकोत्तानचेता, जिनपदमनुसङ्घ संघसङ्घमागात् ।
इह महमहिमासुर्दुरुकामो निकाम, गमनगमनवित्त प्रयणद्धौ निषण्ण ॥ ५१

किञ्च—

पाव पायमहर्निश रिपुयश पीयूषपूर भवान्,
कष्पातु क्षितिकल्पवृक्ष ! भवनात्तुदर्शम्लितालिङ्गित ।
श्रीसोमान्वयसोमनौकिकमथैरेव प्रसूनैस्वि,
त्वत्कीर्तिप्रकरैरपि त्रिभुवन सौरभ्यमभ्यस्यतु ॥ १
मायमायम ! नाम्बरे यश, श्रावसन्त ! तव सन्ततस्थितम् ।
इत्यन यमहिमानमानसो मानसाश्रयमहो ! महायसान् ॥ २
सैमुल्लिनाभि खलु वस्तुपाल प्रतापदीपाञ्जनमञ्जराभि ।
इहोपकण्ठस्थितिभाजि शङ्के, माङ्गियमुमीलितमुखमप्यपि ॥ ३
श्रीवस्तुपालप्रथितप्रसादाद्-दासन् प्रमोदामृतवारयो या ।
एतत्प्रबन्धच्छलतोऽरिसिंह-स्ता एव मूर्ता स्तबकीचकार ॥ ४
प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते। इमा यत्न चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये सङ्घप्रस्थानो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



१ ग प्रग्लो ॥ २ ग–समुत्स्वना ॥

विरहशिखिसमीर कामनासौख्यवीर स्तिमिरतरुकुठार पूर्वदिक्कारहार ।
गगनगजनिपादी कामिनीचक्रवादी, सितरुचिरुदितोऽयं वर्धयन् वार्धितोयम् ॥ १६

इभकुम्भमिभमल्लोद्भासि कैलासशैला-कृतिमयुत नगौघं शेषवच्चोपसर्पान् ।
रुचिरमृतमरीचे सद्गुमर्तुर्यशः श्रीरिव धवलितविश्वा जाह्नवी निह्नुवाना ॥ १७

वियदहनि विताने स्वस्य विश्वस्य सद्य-क्रमसमुदितधूलीमण्डलैर्मण्डनं यत् ।
मुकुलितमिदमिदानीं मूर्त्तमभ्युद्यदिन्दु-द्युतिनिभमिति लेभे भिन्नमालिन्यमालम् ॥ १८

चिरमुपचितहर्षे सद्गलोकावलोका दिव कृतमुकुतोऽयं व्योमचूडावलम्बी ।
सहजनिजकलङ्कव्याकृतिभ्राजमाना कृतिरकृत न केषां विस्मयं गौतरस्मि[1] ॥ १९

निशि नियतमियत्यामस्यमु सद्गलोक, कृतमहमिह भक्त्या जागरूकं विलोक्य ।
इयमधुनुत मौलिं विस्मिता व्योमलक्ष्मी, कुसुममिव तदाऽस्मान् मन्दमभ्रश्यदिन्दु ॥ २०

गिरिशिरसि जिनन्न नन्तुकामस्य मा स्या-महमहह ! महत्त्वादस्य यानान्तराय ।
इति विसृमरभावभ्राजमानक्षणस्य, क्षणमपि न तमिस्रा सद्गलेकस्य जाता ॥ २१

चलितसकलताराळोकमामुक्तसन्ध्या दहनमिह विहायोमण्डलं द्राग् विहाय ।
सहजमहसि सूरे हन्तुमाग मुकामे, क्रमपरमहीभृदुर्गमिन्दुर्गतोऽयम् ॥ २२

सजलजलदचारुर्यारुणीरागभाज, क्षितितलद्धटितस्यामुष्य मुक्ताम्बरस्य ।
समरतिमिरवपो यन्त्रना भर्तुरेष, त्रिभुवनभवना तर्दुर्योराशिरासीत् ॥ २३

स्फुटघटितकलङ्को यः वनामप भत्ता, त्यजति करगृहीतामप्युपा भूरिभुक्ताम् ।
इति बत ! कुमुदिन्य सारसीरम्यशोभा-नालमुपयतमु व्यादधुर्वे धसन्थाम् ॥ २४

हरिहरिति रथाक्रान्तम्पसकम्पकम्प द्रुम इव दिवसेऽस्मिन्नुद्गमारम्भभाजि ।
अलिविसविपणुताऽङ्कुमद्विम्बशीला-दुदयत मृदुलम् रंतवादङ्कुरोऽयम् ॥ २५

पतितवति पयोधिस्तरा हन्त ! रात्रि प्रियकुपतिविभेदाद् दुःखभाजि द्विजेन्दे ।
द्विजततिरविताश्चं निर्नं तारकाणा, पथि कलकलमुधध्वन्ती चिराय ॥ २६

स्तनयुगमिति तुषारस्यन्दसद्भामवारा-वतितशोभितनीडधा तद्गवाक्षोघ ।
गगनरयविदारोऽम्भुदलैरम्बरं लसगिकरकिशोरैर्ममपरं मुत्तमुखं ॥ २७

कुमुदवनानि भूमि नीडामुद्धानमाला, कुञ्ज नयनम जातम्य नारकाणाम् ।
सरदि विरहमता नित्यं भृङ्गैर म्व-कमयादवर्गकेसस्यारात्रा भानुभास ॥ २८

मसृणमुखगमल्लुब्धध्वन्तध्वानुकारी, विशङ्क इव मयुदन् प्राप्तदन्त मूर्यज्ञत ॥
नयनभजत जन्मागमिरुन्नद्धकुम्भन्नवरे रेखिरतरेखानानकुम्भाद्रुमाणाम् ॥ २९

नलिनिविवरअन्मान् नुन्नदीप्तभजमन्दमसीचरसहया मानुगन्धुञ्जगान ।
सपदि विमदन्त कान्तिमन्तं विलोक्य, प्रहमिनमुपरमा पाद्मनी नूपान स्व ॥ ३०

[1] ग-भूर्मी ॥

अवतमससतीना मृत्युकालेऽपमृत्यु, कुवलयवलयाना जीवित पङ्कजिन्या ।
अलमकृत नभोऽङ्कं कोकलोकस्य सीता विरहितहरिशापानुग्रहोऽय ग्रहेश ॥ ३१

दयितमिति पुरस्ताद् वीक्ष्य भानु युवान, हरिहरिति हरिद्दारागमाग प्रकोपात् ।
स्फुटकमलमुखेभ्योऽमोचि नि श्वासधूमा वलिरलिनिकुरम्बच्छद्मना पद्मिनीभि ॥ ३२

अजनि गिरिनितम्बे निम्नमर्कस्य धातु स्फुरितमिव सराग सूर्यकान्ताग्नितसम् ।
करजलपरिधौत चुम्बित चाम्बरेण, क्षणघटितसुवर्णादर्शवद् दिग्वधूनाम् ॥ ३३

सममसममयूखैर्भानुमन्त लसन्त, गिरिशिरसि विलोक्याऽऽलोकनीयप्रभावम् ।
स इव सचिवभर्ता सह्लोकेन साक, विमलगिरिशिरोऽग्र गन्तुमभ्युत्सुकोऽभूत् ॥ ३४

सद्यो जिनक्रमनमस्कृतिलोलसद्य सङ्घदलेलवसुधातलसम्भ्रमेण ।
श्रीवस्तुपालगुणहृष्ट इवाचलोऽपि, शत्रुञ्जयः स्वयमकम्पयदेप मौलिम् ॥ ३५

किञ्च—

नित्य त्वद्वदनारविन्दसदन वाग्देवता सेवते,
　　त्व पद्माश्रयभासुरोऽसि जयति त्रैलोक्यसूत्र त्वयि ।
श्रीमत्प्राग्वाटगोत्रमण्डन ! गुणैरभिर्भवान् ब्रह्मण,
　　साधर्म्यं वहति प्रियवद ! मदाशार्भिस्तदायुर्भव ॥ १

अलभत बत ! यस्मिन् सान्द्रदारिद्र्यपूर्णे गृहपतिरवकाश न प्रदोषक्षणेऽपि ।
वितरति सति वित्त वस्तुपाले कवीना मिह गृहकुहरान्तर्नैप रत्नाकुलेऽपि ॥ २

श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपाल ! भुजयोर्युग्मेन युद्धार्णव,
　　तूर्णं निस्तरतोऽपि ते समभवन्न व्याकुलत्व क्वचित् ।
यद्दूरादवगण्य निर्मलगुण शङ्ख त्वया मौक्तिक
　　स्तोमानामिव धैर्यधुर्य ! यशसा चक्रे महान् सङ्ग्रह ॥ ३

श्रीवस्तुपालसचिवेन्द्रयश प्रसून-माल्येऽरिसिंहकविना गुणगुम्फितेऽस्मिन् ।
कण्ठे सता लुठति निर्मरदुर्जनाली-वक्त्रप्रभा कति न बिभ्रति म्लानभावम् ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सूर्योदयवर्णनो
नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



शैलमौलिगमनाय मनोऽश्वै-र्भ्राजमानमसमानविहारैः ।
प्रापदस्खलितमप्यसमेषु, द्राग् मनोरथरयं पथि सङ्घः ॥ १

भूरिधातुमयजङ्गमशृङ्ग-श्रेणिवद्विविधचीरविचित्रः ।
मन्दमन्दमथ सङ्घजनोऽसौ, सञ्चचाल गिरिराजतटेषु[1] ॥ २

मञ्जुलैः कनककुण्डलकान्तैः, श्रीमुखैः सरसि सोमशताभैः ।
एकभानु-हिमभानुमनोज्ञो, मेरुमप्यजयदेष गिरीन्द्रः ॥ ३

अञ्चलैः शशिसुखीवसनानां, चञ्चलैः कटकसीमनि शैलः ।
सङ्घसङ्ग सुरतामृतसेका-दुद्गतप्रथमपक्ष इवाभात् ॥ ४

आन्तरेण नयनेन जिनेन्दो-राननेन्दुरुचिपानपराणाम् ।
अप्युदारगिरिशृङ्गविलङ्घे, न श्रमः समजनिष्ट जनानाम् ॥ ५

नाम नामसुधया जिनभर्तुः, प्राश्नया जनमुखेषु न तृष्णा ।
दूरवर्तिनि मुखामृतकुण्डे, लोचनानि तृषितानि जनानाम् ॥ ६

प्राप्रियोजितमनोहततीर्था-धीशपादकमलाङ्कितमौलिः ।
शैलसानुषु जनो न वहन्नो, तापमाप तपनांशुततिभ्यः ॥ ७

एमागतेन लघुकं यददर्शि, क्षोणिभृच्छिरसि तेन जनेन ।
उच्चकैर्विचरता ददृशे तत्, महदसह्ममदादिव पुष्टम् ॥ ८

देवभक्तिभरनिर्मितहस्ता-लम्बनश्यतिकरेण मनोऽगम् ।
आसदद् गिरिशिरस्यतिहर्षा-न्मङ्क्षु सम्मुखमिवागतवन्ति ॥ ९

अद्भुतप्रमदशालिषु शैलः, शेखरस्थितिषु तेषु जनेषु ।
भूतिभासितमुखेषु स रेजे, मेरुवज्जनरविच्छविपिङ्गः ॥ १०

कर्मवैरिविजयाय सतेजा, नाभिभूपदनखांशुविचित्रम् ।
आरुरोह सचिव- शुचिदन्तैः, दन्तिराजमिव तं गिरिराजम् ॥ ११

वीक्ष्य यक्षमिह सङ्घजनौघ, श्रीकपर्दिनमथाम्बिरिवेन्दुम् ।
क्षुभ्यति स्म चतुरः स चतुर्धा, विस्तृतस्तरलहर्षतरङ्गः ॥ १२

अन्तरायदलनाय जनौघं, तीर्थसेवनरतेऽभिपतन्तम् ।
दृष्टुकाम इव वर्मनि दूरा-न्नारुरोह गुरुशैलशिरो यः ॥ १३

भावनासलिलशालिनि शश्वत्, तीर्थनाथपदपद्ममनोज्ञे ।
मानसे तनुमतां विलसन् यो, हंसवत् सृजति कामपि कान्तिम् ॥ १४

यक्षमुख्य ! स भवान् भुवनैक-त्राणकारणमकारणबन्धुः ।
वत्सलेव जननी जनमेनं, नाथ ! पालयतु बालमिव स्वम् ॥ १५

---

१ ख-ग-°तटेषु ॥

श्रीकपर्दिनमिति स्तुतिपूर्वं, यक्षराजमभिपूज्य सहर्षम् ।
आशु सङ्घपतिरेष ससङ्घस्तीर्थनाथनमनार्थमचालीत् ॥ १६

उत्सुकैरथ जनैर्जिनचैत्यं, वीक्ष्य मङ्क्षु पथि गामिव वत्सैः ।
व्यक्तशक्तिरभसत्रुटितोच्चैः-कर्मबन्धतरलं प्रदधावे ॥ १७

सञ्चरन् भुवि न माति जनो य, स्फूर्तिसङ्कुचितमूर्तिलवोऽसौ ।
द्रष्टुमास्यनलिनं जिनभर्तु-श्चैत्यधाम्नि स ममौ सममेषः ॥ १८

दृश्यमानमसमानविमर्दं, हद्ध हद्धा ननु मिथस्तनुभाजाम् ।
भाग्यभङ्गभयभङ्गुरसत्त्वै-स्तत्तदारिभिरमोचि तदानीम् ॥ १९

पापपङ्कशमनाय जनानां, स्नानमन्तरकरोद् ध्रुवमात्मा ।
रोमवर्त्मसु जवेन विमर्दे, स्वेदपूरमिषतः प्रसृतं तत् ॥ २०

आबभौ घनघनाघनलक्ष्मी-रङ्गिनां प्रमदरोमविकारः ।
अन्तरस्थितजिनेन्दुरुचिश्री-निरसरद्दुरितवामसतुल्यः ॥ २१

लोचनैस्तनुभृतामिति खिन्नैः, प्राप्य जैनवदनामृतकुण्डम् ।
आशु स्फूतसवनैरिव रेजे, सम्मदेन विगलज्जललेशैः ॥ २२

तत्र तादृगपि जनस्य विमर्दे, शक्यते भ्रमयितुं न करोऽपि ।
वीक्ष्य विश्वविभुमेनमनृत्यन्, भाविनो यदि मुदा मनसैव ॥ २३

स्वीयतादृशविमर्दसुदूर-क्षिप्तसूरकिरणः किल लोकः ।
रत्नभूषणविभिन्नतमिस्रो, भक्तिकृत्यमकृत प्रभुचैत्ये ॥ २४

धूलिधूसरपद एव तदानी-मागतो जिनपतिं प्रणिपत्य ।
दूरपूरितमनोरथवेग, स्तोतुमारभत मन्त्रिवरोऽसौ ॥ २५

त्वद्गुणान् गदितुमीश ! समग्रान्, न स्वयं सुरगुरोऽपि समर्थः ।
गोचरोऽस्यसि न मादृशवाचां, मौनमेव हि तव स्तवहेतुः ॥ २६

त्वां निरर्थकगिराऽपि तथाऽपि, स्तौमि विश्वनुत ! मुग्धतयाऽहम् ।
प्रीतये निजशिशोः स्फुटलाला-भ्यासि लब्धरवचांसि गुरूणाम् ॥ २७

न क्षमोऽयमहितानपि हन्तुं, स्वं कुटुम्बकमय च मुमोच ।
जल्पिता जिन ! परैरिति दोषा, प्रत्युत स्तवनतां तव जग्मुः ॥ २८

भाषितं भुवनभूषण ! भित्त्वा, कर्म निर्ममपते ! भवतेदम् ।
श्रूयते त्वदभिधाऽपि कदाचिद्, यत्र तत्र न करोति निवासम् ॥ २९

नाऽऽप्नुवन्ति भवकर्मनिकेता-द्यतस्तव गतस्य पदं ये ।
भ्राम्यते भ्रमवशाज्जिन ! मुक्त्यै, तैर्वृथैव पृथिवीवलयान्तः ॥ ३०

त्वं मनोभवमपास्य पुनस्तज्जन्मभीरमुच स्वमनोऽपि ।
किं हरन्तु हरिणीतरलाक्ष्य स्तावकं तदमनस्कमरिष्ट ! ॥ ३१

प्राप्य रत्नमिव पुण्यपयोधेस्त्वां हृदि प्रणिदधाति जनो यः ।
स प्रयाति पुरुषोत्तमभावं, पश्य न स्वपिति किन्तु भवाब्धौ ॥ ३२

यामवाप्य न नमामि भवन्तं, तां न निर्वृतिमपि स्पृहयामि ।
त्वत्प्रसादवशतस्त्वयि भक्तिर्भातु मे जिन ! भवेऽपि भवेऽपि ॥ ३३

निर्मितस्तुतिरिति प्रतियातः, कृत्स्नमेष सुकृती कृतशौचः ।
स्नानहेतुकरशान् गुरुगाम्भःपूरितानयमचीकलदिन्द्रैः ॥ ३४

श्रावकाः प्रतिपदं हृदयाग्र्यन्यस्तहस्तधृतकाञ्चनकुम्भाः ।
निस्तरीतुमिव संसृतिसिन्धुं, कुर्वते स्म निरपायमुपायम् ॥ ३५

शुद्धसद्मपतिकीर्तिलतानां विष्टपत्रितयगर्भगतानाम् ।
आतपत्रपटली जिनश्रीर्नादिकन्दवदिव विरराज ॥ ३६

अत्युदारतरनर्तनगातैरासवेन महता प्रहृताथ ।
प्राप मन्त्रितिलकः किल कर्मप्वसिनो जिनपतेरथ चैत्यम् ॥ ३७

कुङ्कुमाम्बुभिरसिस्नपदीशं, श्रावकैः सह यथाविधि मन्त्री ।
तैर्विधौतननुरेष तदाऽभूत्, पर्वतो विमल इत्युचिताह्वः ॥ ३८

अङ्गमण्डनमखण्डनमासीन्निर्मितं मृगमदैर्जिनभर्तुः ।
वल्गुसन्नहनसन्निभमुच्चैः, कर्मकूटरिपुकोटिजयाय ॥ ३९

भूरिपुष्परचिता जिनभर्तुर्लम्बिता कृतिभिरर्चनमाला ।
अग्रभूषण इव स्मरमुक्ता, भक्तयो वपुषि भूषणमासन् ॥ ४०

तैस्तथा जिनगुणैस्तिमिरैरपि निर्मितेऽथ धूपधूम्रभूमैः ।
सस्पृहेव सचिव मुकुनश्रीः, कौतुकादभिससार यथाऽसौ ॥ ४१

आरात्रिकं कृतमथ प्रथमस्य तीर्थभर्तुः पुरः स्फुरदुरुद्युतिचक्रवालम् ।
उच्चावचप्रसरणैर्निजधाम सद्मदीपद्विषं कुसुमवृष्टिविराजमानम् ॥ ४२

इत्थं प्रेक्षणकक्षणाहितमनाः सम्पूज्य विश्वत्रयी-
पूज्यं नाभिसुतं समाप्य च तथारूपामिहाष्टाह्निकाम् ।
मन्त्रीशः प्रतिलाभितव्रतिततिः शत्रुञ्जयोर्वीधरा
दुर्गाणो कृतमङ्गलः समजनि श्रीनेमिसेवोत्सुकः ॥ ४३

किञ्च—

शौर्यैर्वज्रधरस्य दैत्यभरतामाचार्ययोः प्रज्ञया,
दानैर्देवगवीमणिक्षितिरुहां स्वर्गाधिपः गर्वितः ।

एकेनैव विभूषणेन भवता श्रीवस्तुपाल ! क्षिति-
स्तं निर्जित्य मुदा तवाऽऽशिषमदादेवं मेदायुर्भव ॥ १

कल्पान्तोद्भ्रान्तभास्कत्करनिकरनिभो विभ्रमन्तः समन्तात्,
सन्तापस्त्वत्प्रताप-वलदनलभवः केन शक्येत सोढुम् ? ।
मन्त्रिन् श्रीवस्तुपाल ! त्रिजगति यदि ते कीर्त्तिलेखेव न स्या-
दन्त पीयूषपेया बहिरपि च मुहुश्चन्दनोद्वर्त्तनानि ॥ २

भासि दौस्थ्यतरुखण्डखण्डनै-र्वस्तुपाल ! भुवि दान्तिकुञ्जरः ।
चित्रमत्र किमु शङ्खमर्दनं, यत् त्वया क्रमणलीलया कृतम् ॥ ३

काव्यमेतदरिसिंहनिर्मितं, सर्वलोकसुखतयैव रङ्गभूः ।
वस्तुपालसचिवेन्द्रकीर्त्तिभि-र्नर्त्तकीभिरिव यत्र नृत्यते ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये शत्रुञ्जयवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



सचिवः समं सपदि सद्वजनै-रथ देवपत्तनमगान्नगरम् ।
प्रणनाम कामलयिनं नयन-प्रियमिन्दुलाञ्छनमिहोग्रमहाः ॥ १

विधुमौलिमौलिविधुधामभरै-रिह मे भविष्यति सदाऽभ्युदयः ।
इति पाथसामधुमपुत्र पतिं, कृतवासमैक्षत स मन्त्रिपतिः ॥ २

इह सोमनाथमुकुटोल्लसितैः, सरिदम्बुभिर्विधुविभाभिरपि ।
सततप्रवृद्धमिहलहरी-निवहध्वनिध्वनितदिग्वलयम् ॥ ३

सततान्तरालशयविष्णुवपु-र्विभवर्द्धिभाभिरिव मेचकितम् ।
उदयत्तदीयशयनीयफणि-स्फुरदस्थिराग्निनिभफेनभरम् ॥ ४

सलिलेन विश्ववलयप्रलयः, समये मयैव रचनीय इति ।
मुहुरीरितापहतवीचिभरै-र्जनयन्तमन्वहमिहाभ्युत्सनम् ॥ ५

पुरुषोत्तमो हृदि मदीयसुतः, गिरसीश्वरोऽपि विदधाति सदा ।
प्रमदादुदारतरगर्भमिव, प्रकटं नटन्तमिव वीचिकरैः ॥ ६

अयि वज्रभाजि कुपिते सुपतौ, कृतरक्षणं क्षितिभृतामभितः ।
स्फुरितोर्मिबाहुभिरिति कीर्त्तिततो-र्जगति क्षिपन्तमिव फेनमिषात् ॥ ७

१ ग-महायुर्भव ॥

नयनाम्बर्त्मनि परिस्फुरती, दुरितान्धकारपटलीं विकटाम् ।
दलयन्ति मे जिनमदीश ! कदा भवदीयपादनखदीप्तिशिखाः ? ॥ २३
भुवनैकनाथ ! भवदीयवपु-र्विपुलप्रभापयसि मग्नमपि ।
द्वितयं कदा नयनयोरिह मां, हिमहारतारगुण ! तारयति ॥ २४
तदपीयत श्रुतिपुटेन यशः, सततं विपण्णविविपत्रदि ते ।
भवदङ्गदीप्तिममुना यमुना-जयिनीं धयामि नयनेन कदा ? ॥ २५
नलिनादिपुष्पनिवहेन सुरै-र्यदपूजि पादयुगमीश ! तव ।
जिन ! तेन पङ्कजनिभेन कदा, जनयामि पूजितमिवाऽऽत्मगिरः ॥ २६
इति गद्गदाश्रुपुलकाकुलितं, कलयन् मनोरथमनन्यमनाः ।
सचिवः शिवातनयमात्मनयः, क्षणमेकमैक्षत पुरोगमिव ॥ २७
अथ कल्पितासिलविभातविधि गिरिमारुरोह सह सज्जनैः ।
सचिवो जिनक्रमनखेषु पुरो-गमितेन मूर्ध्न इव मङ्क्षु हृदा ॥ २८
तदनु प्रमोदरभसेन रजः-लुतपाद एव विननाम जिनम् ।
अपि चैष नेत्रगमिताक्षणः-प्रसरक्षणं निभृतमीक्षितवान् ॥ २९
रचिताङ्गशौचविधिभिन्द्रिगणै, सहितो जिनस्नपनहतुरथ ।
जिनभक्तिरागमिव मूर्तमसौ, कलशेषु कुङ्कुमजलं न्यदधात् ॥ ३०
अथ केऽपि भक्तिभरभासुरिता, स्फुरिता जिनस्य पुरतः परितः ।
स्वयमुत्सवं विदधिरे मधुर-ध्वनिगीतिरीतिमयवाद्यलयम् ॥ ३१
वदनाग्रभागगतपाणियुग-स्थितभेरिदण्डमिषदन्तकरः ।
गुगुभे करीन्द्र इव मन्दरव, किल कोऽपि पापतरुपातपटुः ॥ ३२
अपरः पयोदरववादभव-जिनदं मृदङ्गमपि वादितवान् ।
ननृते दरद्दुरितभोगिशतैः, कृतिनां मनोवनमयूरकुले ॥ ३३
अपरस्य वंशमपि वादयतो, मधुरस्वरैः प्रमदिनां ध्वनिनाम् ।
पदमालि परपुटकेन रसात्, तदनेति कर्णे इव नेत्रयुगे ॥ ३४
अपरः पिबन्नपि जिनतनुभू-वदनेन्दुदर्शितसुधा स्थिरदृक् ।
मुरजानुकार जनयन् जनता-हृदि सम्मदः कलितगर्जनिनादान् ॥ ३५
चटुला नटी सरसवृत्तवशा-दिह रङ्गभूमिमुना शुशुभे ।
कुलदेवतेव तडिता तरला, जलदपुर्नजिनरतेः पुनः ॥ ३६
इति सम्मदेन जिनमस्नपयद्, गुरुनाम्नि दर्शितनवसत्रया ।
कलितो यथासमयि दैवतरः किल दक्षवीक्षसरसो दक्षो ॥ ३७

स्वहृद प्रमोदविशदस्य रसात्, परमाणुमि पुर इव प्रसृते ।
सचिवेन सारधनसाररसैर्नवमङ्गमण्डनमकारि विभो ॥ ३८

कुसुमायुधस्य कुसुमानि मनागपि सम्मुखानि नहि यत्र ययु ।
इह तानि तीर्थकृति सङ्घटयन्, स बभौ कृती मदनतोऽप्यधिक ॥ ३९

यमुनौघसङ्गमधिया सचिव प्रथितऽय धूपमयधूनमरं ।
प्रमदेन तत्क्षणमकारि नम सरिदम्बुनि घुसुणैर्भि सवनम् ॥ ४०

अथ तामस कवलिता चलिता अनरैतवन भगमुदिरता ।
नवदीपिनापरिहरण चिर, निरराज यजिनमथ सचिव ॥ ४१

स्फुटमष्टकर्मंमथनोऽयमिति, प्रथयन्निहाष्टदिवसानि महम् ।
स्वयमष्टमूर्तिसुरवृन्दुसम, सचिवोऽष्टमु न्यधित दिक्षु यत्र ॥ ४२

सचिवस्य दास इव नन्दभितो, जलवाह एष गिरिमूर्ध्नि वहन् ।
न ववर्ष सद्गजननार्त्तिभयात्, गुदिताम्बपरि सम्लानि पुन ॥ ४३

देया स्वामिन् ! पुनर्म सुरतपुरपुरोडौकनानीति जल्प-
न्नानन्दस्पन्दसोरैरिव धरितमना नेमिनाथं प्रणम्य ।
नाम नाम निकाम विधिवदनिधुर मन्त्रिमान्योऽप्यमम्या
न्नान्यभ्युग्रमाण्यापि पुरोकवपु पर्वतादुत्तार ॥ ४४

अथ गिरीशतटीषु मनीषिणां, परिवृढः परिपूर्णमनोरथः ।
षडपि तत्र ददर्श ऋतून् कला-शुचिरयं चिरयन्त्रितविभ्रमान् ॥ १

प्रकटितायसकर्तरिका मधौ, मधुसखस्य भटा इव किंशुकाः ।
भ्रमरसङ्गसितेतरविस्फुरत्-सुमनसो मनसो ददते मुदम् ॥ २

इदमभूद् दलयन् नलिनीः प्रियाः, मम मद्-परिखण्डनहेतवे ।
इति हिमस्य भिदामहिमद्युतिः, स्म तनुते तनुतेजितविष्टप' ॥ ३

स्मरशिखी तनुमानिव चम्पकः, कुसुमितो मधुपावलिधूमितः ।
दहति काननसीमनि काञ्चन-च्छविरहो ! विरहोषितयोषितः ॥ ४

स्मितसरोजमुखीमुखवासना-सुरभिमधविशेषितसौरभम् ।
परिहृतापरवल्लिमधुव्रती-पचकुलं बकुलं प्रति धावति ॥ ५

सुमनसां त्वमसि स्थितिभूस्त्वया, जयति विभ्रमसौ कुसुमायुधः ।
मधुमितीह रसाल्ररसालसा, पिकवयः कवयः कवयन्त्यमी ॥ ६

स्मरनृपस्य चरत्वमुपागता, द्विजचया मधुरध्वनिशालिनः ।
मधुलिहः सुमनस्सु दधुः पदं, तिलकजालकभावविभूतयः ॥ ७

दधुरनङ्गनिषङ्गतुलामधो-मुखशिलीमुखराजिविराजिताः ।
स्फुटविकाशमुखाः कमलाकराः, न पथि कं पथिकं प्रति भीतये ॥ ८

स्तुतगुणं कुतुकेन मधुमते-रिव स्वाकुलितैः सुमनोमयम् ।
मधुसखाय मधोर्विनियोगतः, शरचयं रचयन्तितमां लताः ॥ ९

व्यथयति प्रथितारुणतेजसो, दहनमन्त्रमयादिव शक्तः ।
मधुसखोऽयमशोकतरुवालतत्-कुसुमतोऽसुमतो विरहातुरान् ॥ १०

मलयजद्रुमसङ्गिभुजङ्गम-स्फुरितफूत्कृतिसम्भ्रमसम्भृतः ।
पथिकलोकदृशां मलयानिलः, सुविषमो विषमोहमिव व्यधात् ॥ ११

कमलकोमलकोशकुचोन्नते-रलिकलालिकशासितसम्पदः ।
वततिकातनिकायवधिवो-ऽधिकमशोकमशोभत पाणिरम् ॥ १२

कमलकान्तिहरीं कुरुतां नयन्, सह हिमाद्रिदिनेन विभावरीम् ।
कमलबन्धुकलोन्नमनो बभौ, शुचिरयं चिरयन् दिवसश्रियम् ॥ १३

द्रुतसनेतदिनाधिपतिप्रभा-परिगलत्तरतोयतनीलया ।
अनिलकोलशिरीषरजश्छलाद्, दिशदनंश्छचो बभु ॥ १४

अहर्निहारुणपात्रि मितेतरो, वन ! विभाप्यपराऽत्र सितच्छवी ।
भ्रमति भूनृभुवा नवपाटले, विचकिलं च शिरोषि मुहुर्मुहुः ॥ १५

१ ग-पथिकलोक°

तरलतारलतागृहपङ्कज च्छदनच दनचन्द्रमरीचिभि ।
तपनतापनताकृतिरप्यसौ, रविवरोऽतिवरोरुषु जृम्भते ॥ १६
नभसि दर्पणतुल्यतडिल्लता, जलदपद्धतिरद्भुतडम्बरा ।
मदनसैन्यगजत्वजयद् बभौ, कृतरवा तरवारिसितेतरा ॥ १७
वियदर्मामिलदर्क निशाकर-द्वयमये नयने भयतो मृशम् ।
यदतुला तडित घनमालिका विकरवा करवालमिवाक्षिपत् ॥ १८
यदयमेतदवाप्य तपस्विना, हृदि हतोऽपि त्रिजीव मनोभव ।
अपि भुजङ्गभुजा शुशुभे सुधा-स्रवचन वचन शिखिना तत ॥ १९
मदमिवर्धितसिन्धुमहीरुह-भ्रमविशोषकमेतदिति क्रुधा ।
अधिककर्ममह सहसा घनै, कवलित वलित तडिता पिपात् ॥ २०
अपरता परतापककर्पिका-हतककेतककंकलिषु षट्पदी ।
अमलकोमलकोरकसौरभ स्थितिषु जातिषु जातरसाऽभवत् ॥ २१
मलकलोलमधुव्रतमन्थुलाऽ म्बुजमुखी जघनोग्वलसैकता ।
शरदि हसरवेण समाश्रिता, धृतरसा तरसा तटिनीवधू ॥ २२
कचन भर्तरि याति तपात्यये, घनघटाश्रुजलानि मुमोच न ।
विरहवद् दधती तपन व्यथा प्रदमम दममङ्गलशङ्कया ॥ युग्मम् ॥ २३
पदमधत्त गतस्य पयोमुच, सुहृद् ग्यमसी शिखिना गण ।
गलितपन्नमयातपवारणैरनिमिव विभव महसा क्षिपन् ॥ २४
समुदिते मुदितेऽम्बुरुहि प्रिय कुवलय वलय सरिता तथा ।
अभून सम्भृतसम्पदर्यमा च्छविमल विमल च विधुर्मह ॥ २५
स्वरुचर्विजयाय निशाद्विष, सहसि साहसिकोरु विभावरी ।
प्रतिदिन परित परिवर्धितो रमहिमा महिमानमुपाययौ ॥ २६
तुहिनम दतरा मलिनऽम्बिनी-मलिनि भुवनि रागपरामपि ।
फरिकाभिरहो [1] शतपत्रिका, सह सितं हसित परित वते ॥ २७
पदमकारि मुख मुदा सदा, त्रिभल्कान्तिभि र्कुङ्कुममण्डिते ।
हिमरुच कमलस्य च सम्पदा, हवनिकामनिकारनिनुन्नया ॥ २८
तुहिनवाहिनवाद्गुनवातभी-रुचितरुचिररुकुलैस्तवान् ।
परतनूरतनूष्मभि भास्वरा-तपननि घननि स्तनम डल ॥ २९
हिमभरस्य तपःप्रतिनोन्नत-यैनमहीन्गृह एव मुखो नृणाम् ।
निशरैपरापि निशीमनाथम, दिनकरो न करोति कथंचन ॥ ३०

घ अपि मु° ॥ २ एतत्पद्य क-खा पुस्तकयोर्नास्ति ॥

पुलककम्पितसूत्कृतिभिः परि-ष्वजनकर्म दिशन् हरिणीदृशाम् ।
हिममयः पवनो ननु कामिना-ममितकामितकारणतां ययौ ॥ ३१

पथिककाननजन्ममनोभव-ज्वलनसम्भवधूममरोपमम् ।
नवलवङ्गरजः पवनाहतं, जगति रङ्गति रङ्गितषट्पदम् ॥ ३२

दिनमयं नमयन् सहसा कुल-स्मरजनी रजनीः परिवर्धयन् ।
विरहितारहितासु सुखोर्मिका-रसमयः समयः शिशिरो ययौ ॥ ३३

सततकुसुमितानृतून्नरोपा-निति समकालमिहावलोक्य मन्त्री ।
अधुनुत विदितप्रभुप्रभावा-तिशयविचारचमत्कृतः किरीटम् ॥ ३४

शैलेऽस्मिन् पुरुहूतपौरमिथुनैर्मन्त्रीशनिर्मापित-
श्रीमन्नेमिजिनेश्वरोत्सवमवत्कौतूहलाकारितैः ।
रन्तुं नित्यषडर्तुभूतिविभवप्रक्षोभवल्लोल्यया,
सानन्दैरतिमन्दनन्दनवनीमुक्तस्पृहैः सस्पृहे ॥ ३५

कुसुमावचायमनसां श्रवणे, सुरयोषितामथ सरोजजुषि ।
कुसुमादुपेत्य निभृतध्वनयो, दधतीव भेदमलिनो मलिनाः ॥ ३६

वयमेव राज्यपदवीं गमिता, मदनेन सम्प्रति किमेभिरिति ।
अवचिन्वते स्म कुसुमानि तदा, रमणैः समं सुरकुरङ्गदृशः ॥ ३७

नवपुष्पमूर्ध्नि यदकारि तप-स्तपनातपेन धृतरागभरैः ।
तरुणीकरग्रहणपुण्यफलं, नवपल्लवैरिदमलाभि ततः ॥ ३८

नवपल्लवा निजविभूतिहृतो, वनवर्तिनः स्फुटमशोककुषः ।
परिकम्पिनो हठवशादरुणी-स्तरुणीकरैर्विभिदिरे रभसात् ॥ ३९

कुसुमार्पणेषु रमणः सुदृशा, प्रथितेऽन्यनाम्नि लघुतां गमितः ।
हृदयात् तदान्तरतलेन सह, श्वसितेन तूलवदकर्षि बहिः ॥ ४०

ददता प्रसूनमपराभिधया, दयितेन वक्रनिभयाऽभिहिते ।
हृदि मानिनी ननु निधाय रुषं, सजलप्रमाणमनुष श्वसितम् ॥ ४१

उदितं प्रियेण निभृतं चतुरा, परगोत्रमश्रुतवती च रहः ।
तदुरस्थपुष्परजसि श्वसितं, व्यमिताधमश्रु च तद्दृश्यने ॥ ४२

सृजता स्रजं शिरसि पद्मदृशो, मृदु चुम्बता प्रियतमेन परा ।
अपि शेमुषीक्षयतया न रसाद्, ददृशे परा न तयाऽपि रुषा ॥ ४३

सकलस्वकीयकुसुमस्वहृति-प्रतिपन्थिनीः प्रति सुरं सुदृशः ।
अमुचन् शिलीमुखशतानि रुषा-, समभूयवस्तदि तान्यपि ताः ॥ ४४

अथ काननान्तरविहारयत-न्नवखेदभेदरभसेन ययु ।
दयितैः सम मृगदृशोऽम्बुनिधि प्रतिहस्तकं सवनहृतु सर ॥ ४५

तरुणीसमागमवशेन जवात्, किल पल्वलोऽजनि मुदा द्विगुण ।
विलसत्तरङ्गकरकोटिरय, तिरयन् निजा कमलिनीदयिता ॥ ४६

अतिदूरत सरभसं रसभाक्, समुपेत्य लोलविषयव्यसन ।
कुचयोर्विदृढय सुदृशा निलय, प्रययौ तरङ्गनिकर सपदि ॥ ४७

दयितेषु तोयजवनेषु गते, रभसेन यत्र कलहसकुल ।
सरसी रराज सुदृशा वदनैः, कुचमण्डलैरपि च फेनभरैः ॥ ४८

हरिणीदृशा कलितरागभर, कुचसङ्गमेन परिवृद्धरसम् ।
बुडदम्बुजन्मकपटेन सर, परिमीलयत्यतिमुखीव दृश ॥ ४९

अवलोक्य कोऽपि रभसेन जन, विपरीतलोचनमुदाररस ।
हरिणीदृशा श्रुतिसरोरुहता-मनचुम्बनव्यतिकरो हसित ॥ ५०

अभिसेचनेन नयनप्रसृति प्रसरत्कराक्षरसतोऽनुपति ।
अपरा सखीं प्रति करप्रसृति च्युतनीरशून्यजलकेलिरभूत् ॥ ५१

कुतमुद्धृतेऽम्बुजमिति प्रकट, त्रुटितस्य वारिणि करे कमितु ।
विदितस्य वीक्ष्य मुखमस्य नवा, रमणी न किं क्रिमकृत त्रपया ॥ ५२

इतिकेलिरसप्रसन्नमनस स्वर्गौकसो भास्कर,
यातेऽप्यम्बुनिधिं सर कुमुदिनीबोधप्रवृद्धश्रिया ।
श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपालयशसा शुभ्रे सत्यैवाम्बर
क्रोडे वैभवपिष्टपिष्टपतया स्तोमेन जग्मुर्दिवम् ॥ ५३

किञ्च—

भारत यावदखर्वपर्वतपटा गुर्वीयमुर्वी नय,
तावन्नन्दतु वस्तुपाल । जगतापुण्यैरगण्यैर्भवान् ।
येनैता भुजगाधिपत्यव भुजे वि यस्य नागाङ्गना
गोष्ठीगीतिमयधरा श्रुतिरसैराचान्तचित्तोऽभवत् ॥ १

अद्यमपि कृतार्तिं द्विजपतिं स्व मूर्धनि स्वर्धुनी
धीरे धारयत जापतिरसावस्यो गुणग्राहिणाम् ।
सद्य सन्ततमन्वयु यमुमरे पुण्यानि पृथा शिरो
नूनं दानवतामुभावपि गुणावतो यमन्ते गुणौ ॥ २

श्रीवस्तुपाल ! रणभाजि भवत्कृपाणे, धाराधरेऽपि परवारणविभ्रमेऽस्मिन् ।
उत्पत्य कोपतरलं सहसा जगाम, सङ्ग्रामसिंह इति स स्वयमेव भङ्गम् ॥ ३

वस्तुपालसुकृतामृतप्रपा, काव्यमूर्तिररिसिंहनूतिता ।
कण्ठदघ्नरसपायिनः शिरः, कम्पयन्ति किल यत्र कोविदाः ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये षड्ऋतुवर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥



तदनु वदनकान्तिप्रत्यक्षेन्दुः श्रुतीन्दुः, समुदितमदपात्रं पूर्णयात्राभिलाषः ।
इह विहितनिवासः काशसङ्काशकीर्तिः, जगितवितत्तकर्मा निर्ममे सङ्घभोज्यम् ॥ १

मलयजमयमम्भः पादयोरुत्तमाङ्गे, घनमथ घनसारं चीवरं चारु चाङ्गे ।
यश इव निजमीदृग्रूपमारोप्य तेन, स्वयरसमुपनीताः साधवोऽगाधबोधाः ॥ २

सन्नं यत्र तदापि रत्नकनकस्तोमैस्तुच्छाशये,
तस्मिन् यच्छति वाञ्छनाधिकतरं दीनेषु दूरादपि ।
मन्येऽभूरि ततो गभीरिमजितो रत्नानि रत्नाकर-
स्तस्य स्थैर्यनिराकृतश्च करदो हेमानि हेमाचलः ॥ ३

किं सूते कर एव हेमनिकरं श्रीनेमिभक्तिक्रिया-
तुष्टे रैवतकाद्रिदैवतकुलैः किं वा निधिः पूर्यते ? ।
इत्थं याचकसञ्चयस्य किमपि स्वस्यापि वाञ्छाधिकं,
तस्मिन् यच्छति खेचरेष्वपि चमत्कारश्चकार स्थितिम् ॥ ४

तदानीं दीनौघे मुहुरपि गृहीत्वा बहुतर, स्वयं निर्विण्णेऽस्मिन् ददद्यमनिर्विण्णहृदयः ।
अहो ! किञ्चित् कोऽपि क्वचिदपि न याचेत वचनं, निरादुर्घार्यदं धवलकपुरे गन्तुमुदितः ॥ ५

दुष्कर्माद्रिपविः पवित्रमहिमा नास्यां कदाचिन्महा-
मोहध्वान्तरविः प्रविश्यति भृशं सङ्घो महोत्साहवान् ।
इत्थं पापलिपिं विलुप्य करणे मालोपमं वामन-
स्थल्याः पुण्यदिनं चकार सुकृती कुर्वन् प्रवेशोत्सवम् ॥ ६

कर्पूरागुरुधूपधूमपटलैर्लक्ष्यमाणैः प्रति-
ग्रामं तीर्थकृतामनेन कृतिना ये जज्ञिरे वारिदाः ।

तैरेव त्रुटिते जले पथि तथा प्रेम्णेव वृष्टं यया,
सपूर्णानि सरोवराणि न पुन सिक्तोऽपि मार्गोऽन्तसान् ॥ ७

स्वस्थानप्रसृतस्वजलमज्जनप्राग्भारसंघ परा स्भास्भपुर प्रसृ चरमनोवेगावकृष्टैरिव ।
सा रु सज्जनै समुज्झितमोभारैस्तदौ सुकृतो, मध्ध्वर्धि इलक्कामिधपुरोपान्त प्रपेदे कृती ॥ ८

स्मेरत्कालीनहर्म्यस्फुरितपथतया रागमासाद्य सद्यो,
लीलालोलपताकाञ्चलतरलचम कारिचञ्चत्कटाक्षा ।
जातक्षोभा पुरीय सविपुलपुलकाकीर्णदूर्वाङ्कुराग्रै,
प्राप्ते श्रीवस्तुपाले सति सचिवशचीवल्लभे वल्लभेऽस्मिन् ॥ ९

इय सर्वाङ्गीणप्रगुणितविभूषा किल तदा, तदाश्लेष यावत् क्षणमिव पुरी भासुररसा ।
अभूद् त शून्या हृदय इव याते पुरजनै, समं श्रीमन्त्रीन्द्र प्रति सरभस वीरधवले ॥ १०

श्रीवीरधवलन्तेज.पालाभिधसचिवमध्यग सचिव ।
त्रिपुरपरीतिरथापितहर इव हरति स्म तत्र मन ॥ ११

भास्वन्ति स्थानभेरीमुरजमरजनिध्वानसन्तापभाति-
भ्राटाहङ्कारदेवीजनरभसपरीम्भसस्भट्टै ।
शक्राद्यैर्देवचक्रैरपि सचिवपति स्तूयमानस्तदानीं,
प्रारेभेऽसौ प्रवेष्टु पुरि पुलकिवपु पौरदृश्यीयमान ॥ १२

अथ पृथुक्रमतुल्यैस्तदु सद्मन्त त्रिभुवनमपि शब्दैरब्दसयावदूकै ।
नवमगितिविदग्धा मागधा भागधेय प्रगुणितगुणगाम तुष्टुवुर्मन्त्रिराजम् ॥ १३

जय जय नयशालिन्नासमुद्रान्तपृथ्वी वलयमिलितकीर्ते ! मन्त्रिचक्रैकचक्र ! ।
दलितकलिविलास ! प्रस्फुरत्तीर्थयात्रा कृतकृतयुगनव्यप्रस्तुते ! वस्तुपाल ! ॥ १४

बलिरपि कलिकाले याचकालीकराले, यदि भवसमविष्यद् दानवो दानशौण्ड ।
इति मनदवलोकाद् विश्रुयन विबाऽपि, स्वयमयमगमिष्यद् देव ! पातालमूलम् ॥ १५

श्रीविश्रामाल्पदमपि भवाद् दासयस्याशु दृष्ट,
स्पष्ट तुष्टो जनयसि जन र्थविनिद दरिद्रम् ।
सामर्थ्यं ते स्वयमिति समालोक्य धाता न सौख्य,
नो दौस्थ्य वाऽलिपि ! नृषु लिसन यथाभावबीया ॥ १६

सद्म सद्गतगौरवे सह सदा कार्यो न कार्ये पुन
नाचेरावगनाद्दश बल्पत पुत्री पुराऽपाठि यत् ।
तस्या तपठनस्य नि शठतया पाठ ददया दवे,
मुद्रा हाटकपट्टिकेव सलिपि श्रीवस्तुपाल ! त्वया ॥ १७

श्रीमन्त्रिमुख्य ! भवदीयविपक्षलक्ष दुष्कीर्तिभिस्त्रिभुवन परित परीतम् ।
क्वाह स्फुरामि तव कीर्तिरितीव वक्तु, कर्णोपकण्ठमगमत् पलितच्छलेन ॥　१८

श्रीसोमान्वयवार्धिवर्धनविधो ! मन्त्रीश ! वागीधरी
लीलावन्प ! भवानकल्पि जगत साधारणो वेधसा ।
इत्थ दाननिदानवैभवभवद्वालम्भरस्थापितै
रैवैभिर्विभवाक्षरैर्विभवभाग् दुःस्थोऽपि सौख्य दधौ ॥　१९

कोपे पापकृतसमार्गमसम चक्षु क्षिपन्ती पुन,
प्रीतौ मौक्तिकदामसोदरमिव भ्रूरेव मन्त्रीश्वर ! ।
उल्लासान्निधन धने च ददती प्रत्यर्थिनामर्थिना
मन्येषा किमु चापयष्टिरतुला किं कल्पवल्लिस्तव ? ॥　२०

आ दोलयन्ति कृतिनस्तव कर्णदोला लीलासु ये गिरमुदारमुदा रसाढ्याम् ।
भूकल्पवृक्ष ! तनुषे निजमौलिकम्पात्, तेभ्य फल दिवि यश कुसुमान्युदस्यन् ॥ २१

का शक्तिर्बुसदा सुधारुचिरसास्नेक्ष क्षयी प्रायते,
तै पश्चान्निरितोऽखिलैरपि समे निघ्नन्तु दैत्यास्ततः ।
अक्षीणस्य सदा त्वदाननसुधाभानो पिबन् वाक्सुधा
मेक सख्य वरस्य वीरधवलो यावन्न सन्नह्यते ॥　२२

असौ ते सचिवावतस ! निबिडाहङ्कारकारस्करा-
घटम्भस्थिरपौरुषद्विपमहाकुम्भभ्रम भेजतु ।
कुम्भावभ्रमुभर्तृकद्रुरहरिस्फूर्जत्करास्फालन-
त्रस्ताऽसौ परिहृत्य नित्यसुखिता विश्राम्यति श्रीरिह ॥　२३

बुद्धिर्लतेव तव विस्फुरिता समस्त शाखाम्बुतैरिह भते हृदयालवाले ।
श्रीवस्तुपाल ! भुवि यत्प्रभवा प्रसून-मालेव मौलिषु न कैरधृत त्वदाज्ञा ? ॥　२४

श्रीसोमान्वयकुट्टिमोद्धृततुलापत्र पवदुर्बल श्रेयोयष्टिरनिष्टविष्टपविषसन्दोहलोहार्गला ।
श्रीविश्रामतरु पराक्रमकरिस्तम्भो रिपुक्षोणिभृद्-दम्भोलिस्तव भाति गूर्जरधरोद्धारैकधुर्यो भुज ॥ २५

अमो भृश सन्ततसञ्चरिष्णु-लक्ष्मीपदालक्तकरक्तकान्ति ।
भवत्कराम्भोरुहवद् विभाति, कृष्णारिनाराचिकुरालिपालि ॥　२६

असत्र सत्रद्वे यदिह विहरन्मार्गणगण स्मरस्सेरे मेरो कटकमटित कपनिटपी ।
इति व्यक्त युक्त सचिवकुलकोटीर ! करज-व्रजव्याजेनाय मणिमुकुटबन्धस्तव करे ॥　२७

किल जगति भवद्गति विलोक्य, स्वगतियश क्षितिनीरव सुरेभा ।
सचिव ! तव भुजेऽपि भूमिभार, दधति पदात् पदमप्यमी न चेलु ॥　२८

प्रसरकनककुतुकेऽस्मिन् सेवका देव ! कामं, तव सचिव ! नमन्तु प्रीतिमन्तः समन्तात् ।
नलदचिजगीर्वाधीनभाल्लस्थदोस्त्या-दरनतय इयामी भूतिभार भजन्ते ॥ २९

इति वर्ण्यमानगुणग्रामो रसो-द्भुरवन्दिवृन्दवरभारतीभरैः ।
जिनदेवतालयपुरस्सरं शनैः, प्रविवेश पत्तनमसौ महामतिः ॥ ३०

अथ तं विलोकयितुमाकुलं कुलं, सुदृशां गवाक्षपदमाप कौतुकात् ।
अचकत् सदाङ्गस्तसुकृत अग क्रियमाणकर्मेतदिति दर्शितादरम् ॥ ३१

विरचय्य काऽपि मणिकुण्डलं श्रुतौ, द्रुतमेकमेव चलिता कुतूहलात् ।
जगदुन्नमाननकुतोभयस्मय-स्वयमागतद्युमणिमण्डला बभौ ॥ ३२

औत्सुक्यभावरसभूषणवैपरीत्या, कर्णावलम्बितमणिग्रथितकङ्कणाभ्याम् ।
काचिच्चकार जिनकुञ्जरकुम्भशोभे, पीनोन्नतस्तनतटे मुकुटावबन्धम् ॥ ३३

औत्सुक्यतः काचन चित्रकार्थं, करे गृहीत्वा मृगनाभिमेव ।
स्निग्धाञ्जनभ्रान्तिवशात् किलन्ती, नेत्रद्वये तत्र दधौ मृगन्धम् ॥ ३४

वैकल्यमाल्यमिलितं कुसुमैरपरस्या, पश्चात्तरत्भ्रमर कबरीकलापः ।
सशायक कुसुमकार्मुकसन्निधान, पृथ्वीधराभिव निहन्तुमधादनङ्गः ॥ ३५

ताडङ्कमेकं कर एव काचित्, तदा वहन्ती चपलं चचाल ।
त्रैलोक्यजैत्रस्मरचक्रवर्ति पताकिनीचाप्रविलासिचक्रा ॥ ३६

आधात् पदे सपाद काचन काञ्चनस्य, हिञ्जीरमङ्कुरितकौतुकमेकमेव ।
स्त्रीषु स्वकीयविजयध्वजिनीषु विश्वे, दत्तं नु वीरकटकं मकरध्वजेन ॥ ३७

पूर्वैकमेव निजमञ्जनमञ्जु नेत्र-माबिभ्रती परमनञ्जनमेव काचित् ।
आभूषितं नु सहजं नु विशेषहृद्यं, जालागता किल विचारयतीव लोके ॥ ३८

काचित् तदा मन्त्रिवरं निरीक्ष्य, कञ्चिद् विभावं हृदये वहन्ती ।
दष्टाधरा पाणिपुटैरजस्रं, पिण्डीकृतं पाटयति स्म हारम् ॥ ३९

काचिद् भुजाभ्यां बहिरङ्गभावाच्छून्यं यदाऽऽलिङ्गनमाततान ।
अन्तर्गते मन्त्रिवरेऽन्तरङ्ग-भावादशून्यं हृदये तदाऽऽसीत् ॥ ४०

इत्थं गौरवगौरपौररमणीस्फारकटाक्षच्छटा-गुच्छच्छायमयूरपिच्छघटितच्छत्रच्छविच्छादितः ।
मन्दं मन्दममन्दवन्दिवचनैरानन्द्यमानो ययौ, धन्यः सौधमसौ धरातलसुधाधाराधरो धीरधीः ॥ ४१

मूर्तोर्जितपतेरथाऽऽत्मपदेऽध्यारोप्य लोकं पुनः,
सम्मानोचितचातुरीपरिचितं सर्वं विसृज्य क्षणात् ।
साक्षादक्षतपात्रपूरितकरश्रेयःप्रसिद्धाङ्गना
रङ्गन्मङ्गलवर्धितः स गमयामास स्मितो वासरम् ॥ ४२

किञ्च—

तात ! ख्यातगिरः सुता मम हता ही ! कालिदासादयो,
नन्वेकस्तु चिरायुरस्तु जगति श्रीवस्तुपालोऽधुना ॥
मार्कण्डः स्फुटमाशिषा शमवतामल्पायुरप्येष यत्,
कल्पायुर्जयतीति वाग्गिमदने धाताऽस्तु जानादरः ॥ १

श्रीवस्तुपाल ! भवदीययशोऽङ्गजस्य, शशन्नभोऽङ्गणविहारमनोहरस्य !
सारङ्गसङ्गतकरस्तरवारिधारि-रक्षाभटश्रियमुरीकुरुते सितांशुः ॥ २

सिन्धुराजविजयोज्ज्वलं यशो, वस्तुपाल ! तव चन्द्रवद् दिवि ।
यत्र दुःखपटलीमलीमसं, सिन्धुराजमुखमेव लाञ्छनम् ॥ ३

यत् कवेर्लवणसिंहजन्मन, काव्यमेतदमृतोददीर्धिका ।
वस्तुपालनवकीर्तिकन्यया, धन्यया किमपि यत्र खेलितम् ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्-नरसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसङ्कीर्तननाम्नि महाकाव्ये पुरप्रवेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



आसाद्य वीरधवलाधिपतिप्रदत्त-श्रीस्तम्भतीर्थनगरप्रभुतामथासौ ।
कीर्तीः क्षितौ तनुमतीरिव कीर्तनानि, कर्तुं समारभत मन्त्रिशिरोऽवतंसः ॥ १

पञ्चासराह्मणहिल्लपुरीपुरन्ध्री-सीमन्तरत्नमिव पार्श्वजिनेशवेश्म ।
उद्धृत्य येन यशसा जनितो जरत्या, हस्तावलम्बनविधिर्वनराजकीर्तेः ॥ २

श्रीस्तम्भतीर्थनगरे रचयाञ्चकार, भीमेशवेश्मनि च काञ्चनकेतुकुम्भौ ।
मूर्तेव कीर्तिरनिशं परवैजयन्ती, नर्नर्ति यत्र दिवि देवनदीं जयन्ती ॥ ३

उत्तानपद्दमज(त)निष्ट पुरस्य भट्टा दित्यस्य मूर्धनि च काञ्चनशेखरं सः ।
तत्रैव दूरतरतापयशःप्रताप-भास्करद्वितयसम्भवतां बभूते ॥ ४

भट्टार्कपूजनवने वटकाभिधाने, कूपं व्यधापयदसौ क्षितिनाभिरूपम् ।
दूर्वाङ्कुरप्रकरकर्बुरिताङ्गकुल्या-मार्गापदेशमिलितासितरोमराजिः ॥ ५

अग्रेऽपि तत्र बकुलाभिधचण्डभानो-रुच्चैः सुधामधुरमण्डपकैतवेन ।
स्पष्टीकृतोऽयममुना प्रभवत्प्रभावो, भूमौ चमत्कृतिकृते स्वयशःशशाङ्कः ॥ ६

श्रीमानखण्डपदमण्डपमत्र मन्त्री, श्रीवैद्यनाथशिवसद्म यदेष चक्रे ।
रोगव्ययाय कृतिनां दधदोषधीशं, तत्रावतारमकृत स्वयमेव देवः ॥ ७

ऊर्ध्व पद निजयशोभरसोदरस्य, तत्रस्य तेन विदधे यदशोचभाया ।
तत्र स्थित तदनुवासरमाभमासा, विश्वेयवस्तुषु हसत्युपरिप्रतिष्ठम् ॥ ८

अत्रैव साधुहतयऽद्भुतपुण्यलक्ष्मी-नगोपम वसतियुग्ममसौ चकार ।
यत्र प्रतिक्षणमहोत्सवहेतुभूता, भूमिश्रमं महति व दनमालिकैव ॥ ९

आरोहदैभवभृत तदगर्भमिवासौ, कुम्भस्तनीमुभयपक्षगवाक्षनेत्राम् ।
तेन प्रपामपि रसप्रसरप्रदरया, वीक्ष्यैव यामयति मद् तु न निर्वृतिं क [1] ॥ १०

तेन व्यधायि धवलक्कपत्तनश्रीवीथीपुरोवायमिवाऽऽदिजिनेन्द्रचैत्यम् ।
मुक्तवाऽपि चञ्चभक्तजनाननपङ्कजानि, यत् पीयते जनविलोचनचञ्चरीकैः ॥ ११

अत्रापि तेन वसतिद्वितय मुनीना, हेतोरकारि सुकृतामृतपानपात्रम् ।
यस्माद् द्विधा प्रसृमर शुचिकीर्तिपूरो, विश्वत्रिय श्रयति विस्तृतहारशोभाम् ॥ १२

या कीर्तिरस्य समभूदिह रागकारव भट्टारकालयमनुद्धरणेन रिथे ।
तस्या भुजङ्गमजगद्गमनाय मार्गे, वापीमिपादयमिहैव कृती वितेने ॥ १३

सा काऽपि कोमलयशोऽङ्कुरवर्धनाय, धात्रीव तेन रचितेयमिह प्रपाऽपि ।
या पूरयेत तृषितेषु तदा चजातमध्येषु केषु न पय कलशस्तनोऽयम् [2] ॥ १४

शत्रुञ्जयाद्रिमुकुटस्य पुरो जिनस्य, तेनेन्द्रमण्डपमिद तदकारि किञ्चित् ।
अप्येकदारमधिगम्य जना यदन्त र्भवान्तरेऽपि न भजन्ति कदाऽपि तापम् ॥ १५

अत्र व्यधापयदय नवमुज्जयन्त श्रीस्तम्भनाधिपजिनाधिपचैत्ययुग्मम् ।
तत्केतुकैतवकराञ्चितयेन कीर्ति, रस्येन्द्रमण्डपगिराभुवि नृत्यतीव ॥ १६

लक्ष्मीर्यथाऽप्यलगिता जगदेकभर्तु भक्त्या ततोऽनलमयेयमिमा च देवीम् ।
वाग्मूर्तिमत्र रचयन्निति स स्वमेकमाकृपमीणमपि वाग्मिनमप्यशासत् ॥ १७

मूर्तीर्विधाप्य निजपूर्वजपूरुषाणा, तेनात्र नियतरुचिपाननिभैस्तदास्थे ।
गा प्रागिता रजनिमालनशीलपद्मबन्धु स्या किमेनमपि मुञ्चति साऽपि लक्ष्मी [3] ॥ १८

मूर्तित्रय हरिकरिस्थमपूरि तेज. पालस्य वीरधवलस्य तथाऽऽत्मनोऽसौ ।
सन्नद्धसुदुरकलिप्रलयाय मूर्त-मत्र्य युगत्रयमिवात्र पावनदेशे ॥ १९

चत्वार्यथ चतुरधीसनलोकना ऽत्वा प्रद्युम्नशाम्बागिरिशाण्यवतार्य तत्र ।
तज्जकीर्तिनिवहस्य चतुर्मुखत्वाद्, धातु श्रिय निदधतोऽपि बभूव धाता ॥ २०

आलोक्य वीक्षितपुराननमूपमक्त्वा चैत्यश्रिया जिनपतेस्तमतीनसत्कम् ।
अत्यद्भुतमलकृततया गिरमीव वक्त्रो, पाणौ तदीयकृततोरणकैतवेन ॥ २१

श्रीसुव्रत भृगुपुरादयमत्र मन्त्री वीर च सत्यपुरत पुरतोऽवतार्य ।
ताभ्या सदा विहितदीपमनोहराभ्या, लोकद्वयीमपि मुदा विशदाञ्चकार ॥ २२

भामण्डलप्रतिनिधिर्विदधे जिनेन्दो-र्यस्तेन तत्र मणि-काञ्चनपृष्ठपट्टः ।
तत्कान्तिभिर्निदलितेषु तमस्सु चैत्ये, दीपा जयन्ति यदि पूजनमङ्गलाय ॥　२३

यच्छातकुम्भमयतोरणकुम्भजालं, तत्राधरीकृतरविच्छवि तेन तेने ।
तेनायमद्रिपतिरुन्नतरप्रभाव:, सम्भाव्यतेऽद्यहसहर्य्यहरोमधीरा: ॥　२४

यद्यम्बरे सुरगुरोरिव मे व्यापास्पदं, वेधाः स्थितिं तदहमत्र मुहुर्निरीक्ष्य ।
अभ्रंलिहाद्रिपतिमूर्धनि कीर्तनौघ-मेतेन कारितमसङ्ख्यमवर्णयिष्यम् ॥　२५

श्रीपादलिप्तपुरसीम्नि सरः स चक्रे, यस्यालिरकमधुरे इवाव तीरे ।
नित्यं नितान्तमधुरीभवितुं सुधाभुग्-भोग्यः सुधारुचिरपि प्रतिमामिषेण ॥　२६

एष स्फुरद्गुरुमुनिप्रसरामिहैव, स्वर्दण्डदर्शनपरां वसतिं वितेने ।
यस्यां यश सितरुचिर्विशदः स कोऽपि, जज्ञेऽस्य यत्र विधुरेव बभूव चिह्नम् ॥　२७

तत्र प्रपेयमपि तेन नवा वितेने, यां प्राप्य शीत-मधुरोज्ज्वलहारिवारिम् ।
पीयूषकुण्डहिमधामजमेव गर्व-सर्वस्वमन्यजगतोर्जगती बभञ्ज ॥　२८

माधुर्यधुर्यमतुलामृतकुण्डवृन्द-स्यन्दानुविद्धमिव यत्र जलं रराज ।
ग्रामेऽर्कपालितकनामनि तेन तेने, पातालमूलगतखातगुरुस्तडागः ।　२९

श्रीस्तम्भनाख्यपुरतीर्थपतिं निशम्य, श्रुत्वा च पार्श्वरुचिरं न स उज्जयन्ते ।
द्वेधोर्धितैर्दिवि यशोभिरदादपूर्वं वैराज्यदुःखममृतांशु-नभःश्रवन्त्योः ॥　३०

स स्तम्भनाभिधपुरेऽद्भुतमुद्दधार, श्रीपार्श्ववेश्म किमपि स्मितवैभवं तत् ।
यत्रागतौ नवकृतप्रतिमाच्छलेन, कौतूहलाद् विमल-रैवतकादिदेवौ ॥　३१

तेन प्रपाद्वयमिहाघटि पार्श्वपार्श्वे स्थित्यैव तादृशगुणप्रगुणं किलैतत् ।
छायामनोज्ञममृताभजलं बिभेद, तापं यदि स्वमवहि स्वमपि प्रपाया ॥　३२

श्रीवैद्यनाथसदनात् किल मालवेशो, दर्भावतीभुवि जहार सुवर्णकुम्भान् ।
श्रीकेलिवेश्म सचिवस्तु स वस्तुपाल-स्तस्मिन् दधौ दिनपतिप्रतिमान्विपत्तान् ॥　३३

चक्रेऽर्बुदाख्यगिरिमूर्ध्नि निजाग्रजन्म-श्रीमल्लदेवसुकृताय स मल्लिदेवम् ।
तद्देहदीधितिभिरञ्जनमञ्जुलाभि-र्लक्ष्मायितं भृशममुष्य यश:शशाङ्के ॥　३४

शक्तः क वक्तुमहमल्पमतिर्बहूनि, श्रीवस्तुपालसचिवेश्वरकीर्तनानि ।
यत्सङ्ख्यया दिवि विधिर्व्यधितोडुनिन्दून्, शीतांशुना खटिकयैव फलानि दातुम् ॥ ३५

ईदृग्मन्त्रिकिरीटकीर्तनघटाशङ्कटचमानैर्मुहु-,
　　　कीर्त्तीनां निवहैरहम्प्रथमिकावष्टम्भसरम्भिभिः ।
तन्मानाधिकवर्धनव्यसनिभिर्मन्ये विभिन्नं नभ,
　　　स्वर्दण्डच्छलदृश्यमाणनिराद्यस्फोटरेखास्पदम् ॥　३६

किंच—

विश्राम्यन्तु भुजङ्गराजरजनीजानिशरार्जाविनी-
जीवातु-स्तनयित्नवो ! नयनयश्री या भवन्त्वाधिरम् ।
उत्तम्भं भुजया यशोभिरमलं दीर्घं प्रतापैर्द्विप-
द्वार्थैः सिक्तमिदं तनोतु भुवनं श्रीवस्तुपालः सदा ॥ १

विश्वं न स्यादनीदृग् निखिलमपि कदाऽप्येष लोकप्रवादः,
कल्पे कल्पे ततस्त्वं नदयसि विदुषो लब्धपुण्यावतारः ।
कल्पद्रुः कामधेनुस्त्रिदशमणिरपि श्रीवसन्त ! श्रवन्ती-
भूयाम्भोधिं गतानामिति भवति भवद्दानवारां विवर्त्तः ॥ २

स्फूर्जत्फेनावलिवलयितोत्तालकल्लोलमाला-
लीलालोलजलधिवलयव्याजतो वस्तुपाल ! ।
क्रीडन्त्येता रणभुवि भवत्कीर्तयः स्तम्भतीर्थ-
प्रान्ते प्रीतिस्तवकितरसाः शङ्खदुष्कीर्त्तयश्च ॥ ३

विश्वेऽस्मिन्नरिसिंहकोविदकृतप्रौढप्रबन्धाद्भुत-
श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपालयशसी पीयूषपूरोपमे ।
एते हर्षवशादशेषविबुधैरास्वादनीये मिथः-
सङ्क्रान्त्या क्षणलब्धसिद्धिविभवे यावज्जगन्नन्दताम् ॥ ४

प्रतिसर्गं प्रबन्धेऽस्मिन्नरिसिंहविनिर्मिते । इमान्यकृत चत्वारि, काव्यान्यमरपण्डितः ॥ ५

॥ इति सुकृतसंकीर्त्तननाम्नि महाकाव्ये सकलकीर्त्तन-
कीर्त्तनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥



गूर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवकविविरचित–

कीर्त्तिकौमुदीमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।

सुकृतसंकीर्त्तनमहाकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः ।